चाणक्य सूत्र
संस्कृत -हिंदी अनुवाद
आशुतोष बंसल

चाणक्य सूत्र

दर्शन-साहित्य में अपनी बात को सूत्रों में कहने की अत्यंत प्राचीन परंपरा है। इन सूत्रों को कंठस्थ करना सरल होता है। आत्मचिंतन के लिए ये अत्यंत उपयोगी होते हैं। ये उन बीजों की तरह हैं, जो देखने में तो छोटे होते हैं, लेकिन जिनके गर्भ में विशाल वृक्ष की संभावना छिपी होती है। आचार्य चाणक्य ने नीति शास्त्र के सार को सूत्र रूप में इसीलिए प्रस्तुत किया है, ताकि उन्हें समझकर व्यवहार में उनसे लाभ उठाया जा सके।

॥ अर्थतोषिणं श्रीः परित्यजति ॥

जो राजा थोड़े-से धन से संतुष्ट हो जाता है, राज्य लक्ष्मी उसे त्याग देती है।

॥ यो यस्मिन् कर्मणि कुशलः तं तस्मिन्नेव योजयेत् ॥

जो व्यक्ति जिस काम को करने में कुशल हो, उसे वही कार्य करने का भार सौंपना चाहिए।

॥ आत्मच्छिद्रं न प्रकाशयेत् ॥

शत्रु को अपनी दुर्बलताओं का परिचय नहीं देना चाहिए अर्थात् ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि अपनी दुर्बलताएं शत्रु पर प्रकट न हों।

॥ गुणे न मत्सरः कर्त्तव्यः ॥

दूसरे के अच्छे गुणों से ईर्ष्या नहीं करनी चाहिए।

॥ सर्वावस्थासु माता भर्तव्या ॥

प्रत्येक अवस्था में माता का भरण-पोषण करना चाहिए।

॥ अथ चाणक्य सूत्र प्रारभ्यते ॥

1. ॥ नमः शुक्रबृहस्पतिभ्याम् ॥

शुक्राचार्य और बृहस्पति को नमस्कार है !

2. ॥ पृथिव्या लाभे पालने च यावन्त्यर्थशास्त्राणि पूर्वाचार्यैः ॥ ॥ प्रस्थापितानि संहृत्यैकमिदमर्थशास्त्रं कृतम् ॥

पृथिवी की प्राप्ति और उसकी रक्षा के लिए पुरातन आचार्यों ने जितने भी अर्थ शास्त्र विषयक ग्रंथों का निर्माण किया, उन सभी का सार-संकलन कर "अर्थशास्त्र" की रचना की गई है। चाणक्य की दृष्टि में "अर्थ" का तात्पर्य भूमि है। इस प्रकार भूमि का संरक्षण और संवर्धन नीति ही शास्त्र का उद्देश्य है।

3. ॥ सुखस्य मूल धर्मः ॥

सुख धर्म से प्राप्त होता है अर्थात् धर्म मानवोचित कर्त्तव्यों का पालन ही सुख का मूल है। मानवोचित कर्त्तव्यों का पालन करने से ही मनुष्य के धर्म का पालन होता है और यही धर्म-पालन सुख है।

4. ॥ धर्मस्य मूलमर्थः ॥

धर्म का मूल है अर्थ। धर्म अर्थात् नीतिपूर्वक मानवोचित कार्यों को करते रहने से ही अर्थ की प्राप्ति होती है। अर्थ को सुरक्षित रखने के लिए राज्य-व्यवस्था का महत्त्वपूर्ण सहयोग होता है। धन के बिना धर्म का पालन भी असंभव होता है। धन के बिना न तो मनुष्य किसी प्रकार की उन्नति कर सकता है और न किसी प्रकार के कल्याणकारी कार्य।

5. ॥ अर्थस्य मूलं राज्यम् ॥

अर्थ का मूल है राज्य। अर्थात् स्थिर और शांति-स्थापित राज्य की सहायता अथवा व्यवस्था के बिना धन संग्रह करना कठिन है।

6. ॥ राज्यमूलमिन्द्रियजय: ॥ "यथा राजा तथा प्रजा" ॥

राज्य का मूल इंद्रियों को अपने वश में रखना है। इंद्रियों पर विजय का अर्थ यही है कि व्यक्ति अपनी इच्छाओं को सीमित और आत्मनियंत्रण रखे। "यथा राजा तथा प्रजा" वाली बात है। राजा और राजपुरुष असंयमी, भ्रष्टाचारी व अकर्मण्य होंगे तो भला प्रजा इन दुराचरणों से अछूती कहां रह सकती है। उनके संयम के कारण ही राज्य की समृद्धि स्थिर रह सकती है और राष्ट्र उन्नति करता है ।

7. ॥ इन्द्रियजयस्य मूलं विनय: ॥

इंद्रियों को जीतने का सबसे मुख्य कारण नम्रता है। मनुष्य विनयशील रहकर ही इंद्रियों को जीत सकता है। विनयशील व्यक्ति ही शिष्टाचार का प्रतीक हो सकता है।

8. ॥ विनयस्य मूलं वृद्धोपसेवा ॥

ज्ञान-वृद्धों की सेवा विनय का मूल है। विनयशील व्यक्ति विद्वानों, अपने माता-पिता आदि सभी का मान-सम्मान करता है और प्रयत्न से अनेक विषयों और विद्याओं का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। विद्वानों के पास जो ज्ञान-रूपी धन है उसे प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को नम्र होकर कुशलतापूर्वक उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

9. ॥ वृद्धसेवया विज्ञानम् ॥

मनुष्य वृद्धों की सेवा से ही व्यवहारकुशल होता है और उसे अपने कर्त्तव्य की पहचान होती है। सूत्र में "'विज्ञानम" शब्द का अर्थ केवल व्यवहारकुशल होना ही नहीं वरन् संसार की अनेक ऐसी बातें हैं जिनका ज्ञान वृद्ध लोगों के पास आने-जाने, उनके उपदेशों और उनकी संगति करने से प्राप्त होता है। जो मनुष्य ज्ञान-वृद्ध लोगों के पास निरंतर उठता-बैठता है और उनमें श्रद्धा रखता है, वह ऐसे गुण सीख लेता है कि उसे समाज में अपने आचार-व्यवहार से सम्मान प्राप्त होता है।

10. || विज्ञानेनात्मानं सम्पादयेत् ||
राज्याभिलाषी लोग विज्ञान, व्यवहार-कुशलता और कर्तव्य-परायणता से परिचित होकर स्वयं को योग्य शासक बनाएं। मनुष्य को चाहिए कि वह अपने आपको उन्नति के मार्ग पर ले जाने हेतु ज्ञान-विज्ञान से संबंध बनाए। किसी भी क्षेत्र में सर्वोच्च स्तर तक पहुँचने के लिए व्यक्ति को व्यवहार-कुशल होना चाहिए।

11. || सम्पदितात्मा जितात्मा भवति ||
जो पुरुष ज्ञान और विवेक से सम्पन्न होता है, वह स्वयं को भी जीत सकता है (अर्थात आत्म-नियंत्रण में सक्षम होता है) और इस संसार में सफल होता है।

12. || जितात्मा सर्वार्थैः संयुज्यते ||
जो व्यक्ति इन्द्रियों को जीतने वाला, नीतिज्ञ, विद्वान् और आत्म-नियंत्रित होता है, वह सभी अर्थों (लक्ष्यों) को प्राप्त करता है। उसकी विशेषता यह होती है कि वह जिस कार्य को अपने हाथ में लेता है, उसे पूर्ण करके ही छोड़ता है।

13. || अर्थसम्पद् प्रकृतिसम्पत्तिं कोशम् ||
राज्य की सुव्यवस्था, शांति और समृद्धि से और राजाओं के सम्पन्न होने से प्रजा की आर्थिक स्थिति में भी वृद्धि होती है।

14. || प्रकृतिसम्पदा न्यायकृत्सप्त राज्यं नीयते ||
प्रजा की संपदा, गुणों में वृद्धि करने वाले योग्य मंत्रियों और न्यायप्रिय नेतृत्व द्वारा राज्य का संचालन किया जा सकता है।

15. || प्रकृतिकोपः सर्वकोपेभ्यः गरीयान् ||
जनता का क्रोध सभी क्रोधों से अधिक भयानक होता है। यदि राजा, मंत्री या अधिकारी रुष्ट हो जाएँ, तो उन्हें समझा-बुझाकर मनाया जा सकता है। किंतु यदि जनता ही किसी कारण से अकाल, अत्याचार, अनावृष्टि, तूफ़ान या अन्य संकटों के कारण कुपित हो जाए, तो उसे संभालना कठिन हो जाता है।

16. || अविनीतस्वामिलाभादस्वामिलाभः श्रेयान् ||
यदि राज्य में कोई दुशासक, अविनीत और अयोग्य शासक हो, तो ऐसे शासक का न होना (चाहे गणराज्य हो) अधिक श्रेयस्कर होता है।

17. || सम्पदात्मा नरः स्मितः सहायवान् ||
राज्य के लिए उपयुक्त गुणों से सम्पन्न राजा को चाहिए कि वह अपने समान गंभीर, नीतिपूर्ण, सत्यनिष्ठ और गुणी सहायकों को रखे तथा उनके सहयोग से राज्य का कार्य संचालन करे। उसे अपने इंद्रियों पर नियंत्रण भी होना चाहिए और अपने कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए।

18. || नासहायस्य मन्त्रविनिश्चयः ||
मंत्रिपरिषद् की व्यक्तिगत सहायता और गुणी सहयोगियों की सहभागिता के बिना, अकेला राजा यदि वह चतुर और अनुभवशील भी हो, राज्य जैसे जटिल विषयों पर उचित निर्णय नहीं ले सकता।

19. || नैकं चक्रं परिभ्रमति ||
जैसे एक पहिये से रथ नहीं चल सकता, उसी प्रकार राज्य को एक व्यक्ति अकेले नहीं चला सकता। राजा के अतिरिक्त उसकी मंत्रिपरिषद् रथ के दूसरे पहिए के समान होती है। मंत्रियों की सहायता के बिना शासन असंभव हो जाता है।

20. || सहायः सखा सुखदुःखयोः ||
जो मंत्री राजा के साथ सुख और दुःख दोनों परिस्थितियों में पूर्ण मेल रखते हुए उसकी सहायता करता है, वही वास्तव में उसका सच्चा हितैषी और मित्र होता है।

21. || ज्ञानी प्रतिष्ठानात्मानं द्वितीयं मन्त्रयित्वा उत्पादयेत् ||
जब शासन संबंधी समस्याएँ उत्पन्न हों, तो स्वाभिमानी राजा का कर्तव्य है कि वह सभी पहलुओं (संदेह, समाधान, विरोधी दृष्टिकोण,बुद्धिमान मंत्रियों की राय, निर्णय और संभावित परिणामों पर विचारपूर्वक चिंतन कर निर्णय ले।

22. || संशयात्मा विनश्यति ||

जिस मनुष्य में विवेक का अभाव होता है और जो श्रद्धा रहित होकर सन्देह करता है, वह निश्चित रूप से सत्य और उद्देश्य से भ्रष्ट हो जाता है।

23 || अशन्यं स्नेहार्त्रेण न मन्त्रे कुर्यात् ||

जो योग्य नहीं है, उससे केवल स्नेहवश मंत्रणा नहीं करनी चाहिए।सत्य और विवेक से हीन व्यक्ति को केवल स्नेही होने के कारण ही अपना हितैषी नहीं मानना चाहिए। ऐसे व्यक्ति को मंत्रणा में शामिल करना अनुचित है।

24. || श्रुतवन्तोऽपि धाशुद्धं मन्त्रं न कुर्युः ||

तर्कशास्त्र, दण्डनीति तथा मंत्रणा करने की शक्ति आदि विधाओं में पारंगत, गुणपूर्वक परीक्षित एवं सत्यनिष्ठ व्यक्ति को ही मंत्री नियुक्त करना चाहिए।

25. || मन्त्रपूर्वका: सर्वार्थसिद्धयः ||

पूर्व में विचार-विमर्श से अनुमोदित योजनाएं ही अंततः कार्यसिद्ध होती हैं। बिना उचित योजना और मंत्रणा के कार्य सफल नहीं होते।

26. || मन्त्रविप्रलीपी कार्यं नाशयति ||

जो व्यक्ति किसी योजना को गुप्त नहीं रख सकता, उसकी योजनाएं असामयिक रूप से प्रकट हो जाने पर विफल हो जाती हैं या नष्ट-भ्रष्ट हो जाती हैं।

27. || प्रमादात् सिध्यन्तं मन्त्रं व्यास्यति ||

यदि राजा, मंत्री या राज्य के कर्मचारी थोड़ी भी प्रमाद (लापरवाही) या आलस्य करें, तो योजनाओं की गोपनीयता बनी नहीं रहती, जिससे राज्य को हानि हो सकती है।

28. || मन्त्रिणां कार्ये समृद्धिर्भवति ||

मंत्रियों द्वारा बनाए गए कार्यों की योजना को गुप्त रखने से ही कार्य बिना बाधा के संपन्न हो पाता है।

29. || सदा गोप्येभ्यो मन्त्रः रक्षितव्यः ||
योजना के रहस्यों को उजागर करने के सभी मार्गों को रोककर उसकी रक्षा करनी चाहिए। चुगलखोर अथवा ऐसा व्यक्ति जिसके पेट में बात न टिके – उसके समक्ष मंत्रणा नहीं करनी चाहिए।

30. || मन्त्रसम्पदा हि राज्यं वर्धते ||
राज्य के कार्यों से संबंधित सभी मंत्रणाओं और योजनाओं को गुप्त रखने से ही राज्य की धन-धान्य में वृद्धि होती है और राष्ट्र समृद्ध हो सकता है।

31. || श्रेष्ठतमा मन्त्रगुप्तिराहुः ||
राजधर्म के आचार्य बृहस्पति, प्रबुद्ध, विद्वान लोग मंत्रों को गुप्त रखने की नीति को सर्वोत्तम नीति बताते हैं।

32. || कार्यान्धस्य प्रदीपो मन्त्रः ||
जो व्यक्ति कार्य को लेकर भ्रमित या अंधकार में होता है, उसके लिए अच्छी नीति, योजनाएं और कर्तव्य-पालन का ज्ञान दीपक के समान कार्य करता है

33. || मन्त्रचिन्तया प्रतिद्वाराण्यवलोकयन्ति ||
जो राजा सदैव सतर्क रहता है और विजय की इच्छा रखता है, वह अपने मंत्रियों की सलाह से अपने विरोधियों की दुर्बलताओं को पहचानकर उचित रणनीति बनाता है और अपने राज्य को सुदृढ़ बना सकता है।

34. || मन्त्रकाले न निःस्पृहः कर्तव्यः ||
मंत्रणा के समय सभी सदस्यों का कर्तव्य होता है कि वे किसी की उम्र, अनुभव या शक्ति की उपेक्षा किए बिना, निष्पक्ष भाव और श्रद्धा के साथ उसकी बात को सुनें और उचित मंत्र को ग्रहण करें।

35. || त्रयाणां एकवाक्ये सम्प्रत्ययः ||:
जब सभी लोग किसी कार्य के विषय में एकमत हो जाते हैं, तो कार्यसिद्धि सुनिश्चित हो जाती है।

36. || कायार्थ-अकायार्थ-तत्त्वार्थदर्शिनो मन्त्रणाः ||
राजा को चाहिए कि वह ऐसे मंत्रियों की नियुक्ति करे जिन्हें कार्य, अकार्य और तत्त्व का ज्ञान हो। जो मंत्री वास्तविकताओं को ठीक से समझते हों, अधिक लालची न हों और मंत्र के रहस्य को जानने वाले हों, वही उपयुक्त होते हैं।

37. || षटकर्णे भवति भेदो मन्त्रः ||
कोई भी मंत्र यदि छह कानों तीसरे व्यक्ति तक पहुँच जाए, तो वह भेद नहीं रहता। चाणक्य ने इस सूत्र में गुप्त बातों को गोपनीय रखने की बात कही है।

38. || आपत्सु स्नेहयुक्तं मित्रम् ||
विपत्ति के समय जो साथ दे, वही सच्चा मित्र होता है। जब विपत्ति आती है और सब साथ छोड़ देते हैं, तब जो प्रेम से साथ खड़ा हो, वही मित्र है।

39. || मित्रसंग्रहेण बलं सम्पद्यते ||
सच्चे मित्रों को जानने और एकत्र करने से मनुष्य को वास्तविक बल प्राप्त होता है। मित्र, मंत्री, देश, दुर्ग, खजाना, सेना आदि के रूप में जो बल मिलता है, वही व्यक्ति को शक्तिशाली बनाता है।

40. || बलवान् लब्धलाभे प्रयतते ||
जो बलवान होता है, वह अप्राप्त को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करता है। सच्चे मित्रों से जो बल मिलता है, उससे मनुष्य उद्यम करके राज्य और ऐश्वर्य प्राप्त करने का प्रयास करता है।

41. || अलब्धलाभो नालसस्य ||
सत्य में निष्ठा का अभाव ही आलस्य है और आलसी व्यक्ति कभी भी अप्राप्त की प्राप्ति नहीं कर सकता।

42. || आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महान् रिपुः ||
शुद्धः आलस्य मनुष्य के शरीर में स्थित सबसे बड़ा शत्रु है।

43. || अलसस्य लब्धस्य पालयितुं न शक्यते ||
आलसी व्यक्ति जो कुछ प्राप्त करता है, कर्तव्यों से विमुख होने के कारण वह अपनी संपत्ति की रक्षा करने में असमर्थ होता है।

44. ॥ न चालसस्य पालयितुं व्यवस्थितं ॥
आलसी, सत्यहीन और प्रयत्नहीन व्यक्ति का दैव या राज्य कुछ समय तक सुरक्षित दिख सकता है, पर वह स्थायी नहीं होता। ऐश्वर्य में वृद्धि न होना, वास्तव में उसका विनाश है।

45. ॥ न भृत्यान् प्रेषयेत् ॥
आलसी व्यक्ति अपने अधीनस्थ कर्मचारियों से भी सही कार्य नहीं ले पाता। वह स्वयं निष्क्रिय होता है और दूसरों को कार्य करने को प्रेरित नहीं कर सकता।

46. ॥ अलब्धलाभादि चतुष्टयं राज्यतन्त्रे ॥
अलब्ध की प्राप्ति, लब्ध की रक्षा, रक्षित का वर्धन और योग्य कर्मचारियों की नियुक्ति – ये राज्यतंत्र के चार आधार हैं।

47. ॥ राज्यतन्त्रारम्भं नीतिशास्त्रात् ॥
सुचारु राज्यतंत्र की स्थापना नीतिशास्त्र के अनुसार ही होती है।

48. ॥ राज्यतन्त्रेष्वायत्तौ तन्त्रावाप्तौ ॥
राष्ट्रनीति और हित से संबंधित कर्तव्यों का पालन करना किसी भी राष्ट्र-व्यवस्था के आवश्यक अंग होते हैं।

49. ॥ तन्त्रं स्वस्वविषयकृत्येष्वायत्तम् ॥
स्वराज्य-व्यवस्था केवल अपने राष्ट्र से संबंधित कर्तव्यों के पालन पर आधारित होती है।

50. ॥ आवाप्तो मण्डलस्ववष्टः ॥
राष्ट्रीय हित से संबंधित मंत्रालय, दूसरे राष्ट्रों से संबंधित कर्तव्यों और मंडल से जुड़ा होता है।

51. ॥ सम्बन्धविग्रहयोः सन्धिगतः ॥
पड़ोसी राज्यों से अनेक प्रकार की सन्धियाँ और उनके विरुद्ध की जाने वाली कार्य-व्यवस्थाएँ राष्ट्र-नीति का महत्त्वपूर्ण अंग होती हैं।

52. || नीति-शास्त्रानुगो राजा ||
राजा को दण्डनीति, तंत्रशास्त्र और अर्थशास्त्र जैसे नीति-शास्त्रों के अनुसार ही कार्य करना चाहिए।

53. ||अनन्तिप्रकृतिः शत्रुः ||
सीमा पर संघर्ष की संभावना हमेशा बनी रहती है, इसलिए समीपवर्ती राज्यों और वहाँ के लोगों से शत्रुता उत्पन्न हो सकती है; अतः पड़ोसी राज्यों से सतर्क रहना चाहिए।

54. || एकान्तरितं शत्रुमित्रं भवेत् ||
राजा को चाहिए कि वह कूटनीति के द्वारा अपने पड़ोसी शत्रु राष्ट्रों के मित्र राष्ट्रों को भी अपना मित्र बना ले।

55. || हेतुतः शत्रुः शत्रुे भविष्यतः ||
शत्रुता, मित्रता और मित्रता का अंत — ये सब बिना कारण के नहीं होते।

56. || हीयमानः सन्धिं कुर्यात् ||
जब अपने देश पर संकट आए तो निर्बल राजा को चाहिए कि वह शक्तिशाली और अन्यायी राजा से भी सन्धि कर ले।

57. || तेजोऽहि सन्धानहेतुस्तदार्थनार्थम् ||
दो देशों के बीच स्थायी, व्यवहारिक और सार्थक सन्धि तभी हो सकती है जब दोनों राष्ट्र तेजस्वी और परस्पर विश्वास रखने वाले हों।

58. || नातिलोहो लोहेन सन्धीयते ||
जैसे गर्म लोहा ही गर्म लोहे से मिल सकता है, वैसे ही सन्धि उन्हीं राजाओं के बीच सफल होती है जो समान रूप से तेजस्वी हों।

59. || बलवान् हीनेन विगृह्णीयात् ||
बलवान राजा को चाहिए कि वह निर्बल राष्ट्र की शक्ति का पहले अनुमान लगाए, फिर ही युद्ध का निर्णय ले।

60. || न ज्यायसा सन्धिं वा ||
अपने से अधिक समृद्ध वा समशक्ति वाले राष्ट्र से सन्धि नहीं करनी चाहिए।

61. || गजपादविग्रहो बलविग्रहः ||
अपने से बलवान राजा से युद्ध करना ऐसा ही है जैसे पैदल सेना का हाथियों की टुकड़ी से भिड़ जाना।

62. || आर्पात्राभ्यां सह विनश्यति ||
जैसे दो कच्चे पात्र आपस में टकरा कर टूट जाते हैं, वैसे ही समान शक्ति वाले दो राजा आपसी युद्ध में नष्ट हो जाते हैं।

63. || अरिप्रयत्नाभिसंधीयेते ||
राजा को चाहिए कि वह अपने शत्रु राष्ट्र और उनके प्रयत्नों तथा योजनाओं पर सतर्क और पूर्वदृष्टि रखने वाला हो।

64. || अरिविरोधादात्मविकारावसेत् ||
राजा का कर्तव्य है कि वह अपने राष्ट्र को स्थिर करने का प्रयास करे और बाह्य व आंतरिक खतरों जैसे सांप्रदायिक दंगे, बमविस्फोट, लूटमार आदि से उसे बचाए।

65. || अविद्रराजानमाश्रयेत् ||
किसी राजा से सम्बन्ध विच्छेद के बाद उससे उसी प्रकार सावधान रहना चाहिए जैसे कोई व्यक्ति अहि (साँप) से रहता है।

66. || सन्धायैकतः वा ||
राजा को चाहिए कि वह अपने पड़ोसी राष्ट्र से सन्धि या युद्ध किसी भी स्थिति में शत्रु के प्रयत्नों पर पूरी दृष्टि रखे।

67. || सम्मतहीनः बलवन्तमाश्रयेत् ||
स्वयं को स्थिर और सुरक्षित रखने के लिए निर्बल राष्ट्र को चाहिए कि वह बलवान धर्मपरायण राष्ट्र से सन्धि करके उसे अपना मित्र बना ले, जिससे वह अपनी स्वतंत्रता की रक्षा कर सके।

68. || दुर्बलाश्रयः दुःखदावहः ||
दुर्बल का आश्रय लेने से दुःख ही प्राप्त होता है। दुर्बल राष्ट्र का आश्रय लेने वाले राष्ट्र का कल्याण नहीं हो सकता।

69. || उद्द्तवेषधरो न भवेत् ||
मनुष्य को सामाजिक नियमों के अनुसार ही वस्त्र धारण करने चाहिए। उद्दंडता प्रकट करने वाले वस्त्र नहीं पहनने चाहिए।

70. || न देवचरितं चरेत् ||
मनुष्य का कर्तव्य है - वह ऐसे कार्य न करे जो केवल राजा(देवों) के योग्य हों।

71. || राजविशिष्टं न च वक्तव्यम् ||
ऐसी वाणी नहीं बोलनी चाहिए जिससे राज्य के गुप्त और महत्वपूर्ण विषय प्रकट हों।

72. || राज्ञः प्रतिकूलं न आचरेत् ||
राजा के प्रतिकूल आचरण नहीं करना चाहिए। 'राजा' का अर्थ यहाँ राष्ट्र का प्रतिनिधि है।

73. || राज्यैश्वर्यथितः द्वेष्येषु वैरं कुर्यात् ||
राज्य-संपत्ति से ईर्ष्या करने वाले व्यक्तियों (जो राज्य और राष्ट्र के विरोधी हैं) के प्रति विरोध की भावना रखनी चाहिए।

74. || आसक्तव्यसनः चतुर्भङ्गवानपि विनश्यति ||
जो व्यक्ति व्यसनों में आसक्त होता है, वह चाहे चारों अंगों से सुसज्जित (संपन्न) भी हो, फिर भी नष्ट हो जाता है।

75. || न व्यसनिनः कार्यवस्थितिः ||
व्यसनी व्यक्ति युद्ध जैसे कार्यों में भी स्थिर नहीं रह सकता। वह पराजित होता है।

76. || नास्ति कार्ये प्रवृत्तिः द्यूतप्रियस्य ||
जो लोग जुए के आदी होते हैं, वे अपने कर्तव्यों के प्रति उदासीन हो जाते हैं।

77. || मृगयाप्रियस्य धर्मार्थौ विनश्यतः ||
जो राजा शिकार (मृगया) में अत्यधिक रुचि रखता है, वह अपने धर्म और अर्थ दोनों को नष्ट कर देता है।

78. || अर्थेषणा न व्यसनेषु गण्यते ||
जीविका के लिए धन की इच्छा (अर्थेषणा) को व्यसन नहीं कहा जा सकता। यह जीवन के लिए आवश्यक है।

79. || न कार्यासक्तस्य कार्यानुष्ठानम् ||
चरित्रहीन व्यक्ति किसी भी कार्य को ठीक से नहीं कर सकता। राष्ट्र के लिए आवश्यक है कि अधिकारी और प्रजा दोनों चरित्रवान हों।

80. || अर्थतोषणात् श्रीः परित्यजति ||
जो राजा अनुचित साधनों से संतुष्ट हो जाता है, लक्ष्मी (समृद्धि) उसे त्याग देती है। ऐसा राज्य नष्ट हो जाता है।

81. || अग्निदाहादपि विशेषः वाक्पारुष्यस्य ||
कठोर वाणी, अग्नि की जलन से भी अधिक पीड़ादायक होती है। यह समाज में झगड़े और विवादों का कारण बनती है।

82. || दण्डपारुष्यात् सर्वजनविरोधः भवति ||
यदि न्यायाधीश द्वेषवश किसी अपराधी को उसके अपराध से अधिक कठोर दण्ड देता है, तो लोगों की न्याय व्यवस्था में आस्था कम हो जाती है।

83. || दण्डनीत्याः प्रजायाः त्राणम् ||
स्पष्ट दण्डनीति से प्रजा का कल्याण होता है और प्रजा की रक्षा के द्वारा राजा तथा राष्ट्र का अस्तित्व सुरक्षित रहता है।

84. || अपराधी दण्डनीत्या भयभीतः स्यात् ||
दण्डनीति ऐसी होनी चाहिए कि अपराधी अपराध करने से भयभीत हो और पुनः अपराध करने का साहस न करे।

85. || दण्डनीतिधारितः प्रजाः संरक्षति ||
जो राजा दण्डनीति (राज्य की दंड प्रणाली) को उचित रूप में अपनाता है, वही प्रजा की रक्षा करने में सक्षम होता है।

86. || दण्डः सम्पदां योजयति ||

दण्ड (न्यायिक कर एवं व्यवस्था) सभी प्रकार की संपत्ति से राज्य को समृद्ध करता है। यह शासन का प्रमुख आधार है।

87. || दण्डाभावे न सश्रवगाथाभावः ||

राज्य में दण्ड की व्यवस्था न होने पर योग्य मंत्रियों की उपेक्षा होती है और अयोग्य मंत्री प्रभाव में आ जाते हैं।

88. || न दण्डादकायार्थः कुतः स्वस्ति ||

धर्मयुक्त राज्य में अपराधियों को दण्ड देने से ही राष्ट्र के नागरिक विधिविरुद्ध कार्यों से दूर रहते हैं।

89. || आत्मरक्षिते सर्वे रक्षितं भवति ||

यदि राजा आत्मरक्षा में सक्षम होता है, तो जनसामान्य भी सुरक्षित रहता है। राजा की सुरक्षा से सम्पूर्ण राष्ट्र की रक्षा संभव है।

90. || आत्मार्थयोः वृद्ध्यविनाशौ ||

मनुष्य की वृद्धि और विनाश उसके अपने आचरण में निहित होते हैं। राजा की योग्यता वा अयोग्यता ही राज्य की वृद्धि और विनाश का कारण बनती है।

91. || दण्डः स विज्ञाने प्रणीयते ||

दण्ड संबंधी निर्णय विशेष रूप से विचारपूर्वक किए जाने चाहिए। दण्ड का प्रयोग और उसके परिणाम दूरगामी होते हैं।

92. || दुर्बलोऽपि राजा नावज्ञातव्यः ||

राजा को दुर्बल समझकर उसकी आज्ञा की अवहेलना नहीं करनी चाहिए। इससे विधि का उल्लंघन और राष्ट्र का व्याकुल अहित होता है।

93. || नास्त्यहेतोर्दुर्बल्यम् ||

आग को कभी दुर्बल नहीं समझना चाहिए। एक छोटी-सी चिनगारी भी बड़ा संकट उत्पन्न कर सकती है।

94. || दण्डे प्रतीयते वृत्तिः ||

राजा की सम्पूर्ण राजकीय योग्यता उसकी दण्डनीति से प्रकट होती है।

95. || वृत्त्याः मूलं चरित्रम् ||
धन-धान्य की प्राप्ति अथवा राज्य की समृद्धि राजा के चरित्र (इन्द्रिय-संयम) पर निर्भर करती है।

96. || अर्थमूलौ धर्मकामौ ||
धर्म का पालन तथा कामनाओं की पूर्ति राष्ट्र और राज्य की आर्थिक स्थिरता पर निर्भर करती है।

97. || अर्थमूलं कार्यम् ||
सभी कार्यों की मूलभूत आवश्यकता धन है। कठोर श्रम से ही राज्य की समृद्धि होती है। धन प्राप्त करने के लिए कार्य करना अनिवार्य है।

98. || उपायपूर्वं न दुष्करं स्यात् ||
यदि किसी कार्य को उचित उपायों के साथ किया जाए, तो वह कठिन न रहकर अल्प समय में भी संपन्न हो सकता है।

99. || यदल्पप्रयत्नात् कार्यसिद्धिः सम्भवति ||
यदि राष्ट्र समृद्ध हो और राज्यश्री सुदृढ़ हो, तो थोड़े से प्रयत्न में भी बड़े कार्य सिद्ध हो सकते हैं।

100. || अनुपायपूर्वं कार्यं कृतमपि विनश्यति ||
यदि बिना उपाय (धन, शक्ति, योजना) के कोई कार्य प्रारंभ किया जाए, तो वह कार्य नष्ट हो जाता है।

101. || न चञ्चलचित्तस्य कार्यसिद्धिः ||
चंचल चित्त वाले व्यक्ति का कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होता।

102. || कार्यार्थं साधनम् उपायः एव सहायः ||
सही उपाय ही जीवन में कार्य सिद्ध करने वालों के लिए सच्चा सहायक है।

103. || कार्यं पुरुषकारेण लक्ष्यं सम्पद्यते ||
कार्य अपने स्वरूप (कर्तव्य) को निश्चित करने के बाद पुरुषार्थ से ही लक्ष्य तक पहुँचता है।

104. || पुरुषकारानुवर्तते दैवम् ||
भाग्य पुरुषार्थ के पीछे चलता है।

105. || उद्यमेन पुरुषसिंहः लक्ष्मीम् आप्नोति ||
उद्यमशील पुरुष ही लक्ष्मी को प्राप्त करता है।

106. || दैवम् आश्रित्य कापुरुषाः वदन्ति ||
भाग्य का सहारा तो केवल कायर और निर्बल व्यक्ति लेते हैं।

107. || दैवे न सति प्रयत्नं कुर्वतः यत्नं व्यर्थं भवति ||
यदि भाग्य प्रतिकूल हो तो प्रयत्न करने पर भी कार्य निष्फल हो जाता है। लेकिन बुद्धिमानीपूर्वक पुरुषार्थ करने पर भाग्य भी अनुकूल हो जाता है।

108. || अश्रद्धास्य वृत्तान्ते न श्रद्धा विद्यते ||
जिस व्यक्ति की बुद्धि अविश्वसनीय हो, उस पर सद्भावना या सद्व्यवहार करना व्यर्थ होता है।

109. || पूर्वं निश्चित्य पश्चात् कार्यारम्भः ||
कार्य को शुरू करने से पहले सभी पहलुओं पर विचार करके दृढ़ निश्चय करना चाहिए।

110. || कार्ये दीर्घसूत्रता न कार्या ||
कार्य शुरू करने के बाद उसमें अनावश्यक विलंब या आलस्य नहीं करना चाहिए।

111. || देशकालविभागं ज्ञात्वा कार्यारम्भः ||
समय, स्थान और परिस्थितियों का विचार करके ही कार्य की शुरुआत करनी चाहिए।

112. || हस्तगतवस्तुनां उपयोगात् कार्यसिद्धिः भवति ||
मनुष्य के पास उपलब्ध साधनों का सदुपयोग ही कार्यसिद्धि का कारण है।

113. || दोषवर्जितं कार्यं दुर्लभम् ||
इस संसार में ऐसा कोई कार्य नहीं जो पूर्णतः दोषरहित हो। मनुष्य और प्रकृति स्वयं अपूर्ण हैं।

114. || दिनबन्धं कार्यं न आरभेत ||
ऐसे कार्यों की शुरुआत नहीं करनी चाहिए जिनके परिणाम निश्चित रूप से दुःखद हों।

115. || कालवत् कार्यं साधयेत् ||
उचित समय को पहचानने वाला बुद्धिमान व्यक्ति कार्य को सरलता से सिद्ध कर लेता है।

116. || कालातिक्रमेण कार्यं निष्फलम् भवति ||
यदि कर्तव्य का उचित समय निकल जाए, तो वह कार्य असफल होता है।

117. || क्षणं प्रति कालविलम्बं न कुर्यात् सर्वकृत्येषु ||
मनुष्य को प्रत्येक निश्चित कार्य में एक क्षण का भी विलंब नहीं करना चाहिए। जो कार्य जिस समय किया गया है, वही उसका सर्वोत्तम समय होता है।

118. || दैवहीनं कार्यं सुसाध्यमपि दुष्साध्यं भवति ||
यदि भाग्य प्रतिकूल हो तो सरल कार्य भी कठिन प्रतीत होता है।
लेकिन अनुकूल प्रयास करने वाले कभी हार नहीं मानते।

119 || दुःसाध्यमपि सुसाध्यं कुर्वन्ति उपायज्ञाः ||
जो व्यक्ति किसी कार्य को पूर्ण करने के उपाय जानता है, वह कठिन से कठिन कार्य को भी सरल बना देता है।

120. || दैवम् आश्रित्य कापुरुषाः वदन्ति ||
कायर व्यक्ति ही केवल भाग्य को दोष देते हैं। उद्यमशील पुरुष ही लक्ष्मी को प्राप्त करता है।

121. || नीतिज्ञः देशकालं परीक्षेत् ||
नीति जानने वाला व्यक्ति समय और परिस्थिति दोनों का पूर्ण परीक्षण करके ही कार्य करता है।

122. || परीक्ष्य कार्यं श्रीः स्थाप्यते ||
जो व्यक्ति विचारपूर्वक और अवसर को पहचान कर कार्य करता है, उसे सफलता अवश्य मिलती है।

123. || सर्वथा सम्पदः सर्वोपायेन परिग्रहेत् ||
राजा का कर्तव्य है कि वह सभी उपायों (साम, दान, दंड, भेद, बुद्धि-कौशल) से सम्पत्ति का संग्रह करे।

124. || भाग्यवन्तमपि अपेक्ष्यकारिणं श्रीः परित्यजति ||
जो व्यक्ति बिना अवसर पहचाने कार्य प्रारंभ करता है, वह भाग्यशाली होते हुए भी लक्ष्मी से वंचित हो जाता है। अर्थात् उसे सफलता प्राप्त नहीं होती।

125. || ज्ञानेनानुभवेन च प्रवीणता कर्तव्या ||
मनुष्य को ज्ञान और अनुभव दोनों के द्वारा अपने कर्तव्य की परीक्षा के साधनों का पता लगाना चाहिए।

126 || यो यस्मिन् कर्मणि कुशलः तं तस्मिन् एव योजयेत् ||
जिस व्यक्ति को जिस कार्य में योग्यता और दक्षता हो, उसे उसी कार्य में नियुक्त करना चाहिए।

127. || अज्ञानात् कृतं कार्यं न बहु मन्तव्यं ||
यदि कोई अज्ञानी व्यक्ति किसी कार्य को सफल बना लेता है, तो उसकी सफलता को आकस्मिक मानकर उसे अधिक महत्व नहीं देना चाहिए।

128. || यद्दच्छया कृतं कार्यं रूपान्तरं कुर्वन्ति कृमयः ||
जैसे कीड़े बिना किसी ज्ञान के वस्तु के रूप को बदल देते हैं, वैसे ही अनजाने में कार्य कर देना सफलता का प्रमाण नहीं होता।

129. || स्वशक्तिं ज्ञात्वा कार्यार्थं अभियेत् ||
मनुष्य को अपने सामर्थ्य को जानकर ही कार्य आरंभ करना चाहिए।

130. || सिद्धस्यैव कार्यस्य प्रकाशनं कर्तव्यम् ||
किसी कार्य के पूर्ण हो जाने के बाद ही उसके विषय में लोगों को जानकारी देनी चाहिए।

131. || ज्ञानवतामपि दैवादनुष्ठानदोषात् कार्यं विफलम् ||
कभी-कभी विद्वानों के कार्य भी प्रतिकूल परिस्थितियों या मानवीय त्रुटियों के कारण असफल हो जाते हैं।

132 || दैवं शिथिलकर्तृत्वं प्रतिषेध्यम् ||
व्यक्ति को अपनी बुद्धि स्थिर रखनी चाहिए और निरंतर प्रयास करते हुए दैवी आपदाओं से छुटकारा पाने का प्रयत्न करना चाहिए।

133. || मानुषीं कार्यविघ्नं कौशलेन विनिवारयेत् ||
दैवी आपदाओं की तरह कुछ विघ्न मानव-निर्मित भी होते हैं जिन्हें सतर्कता और बुद्धिमत्ता से दूर किया जा सकता है।

134. || कार्यविघ्नेषु दोषान् अन्येषां आरोपयन्ति मूर्खाः ||
असफल मूर्ख लोग अपनी गलतियों पर पछताने के बजाय दूसरों पर दोष लगाकर स्वयं को निर्दोष सिद्ध करने का प्रयास करते हैं।

135. || कार्यसिद्ध्यर्थं दया न कर्तव्या ||
राज्य के अधिकारी का कर्तव्य है कि वह कार्य को सिद्ध करे, भावुक होकर दूसरों पर दया करना सुसंगत नहीं, क्योंकि इससे राष्ट्र की हानि हो सकती है।

136. || जीवार्थी वत्सः मातरं हिनस्ति ||
बछड़ा दूध पीने की इच्छा से अपनी माँ के स्तनों पर सिर से चोट करता है। इसी प्रकार मनुष्य भी प्रयत्नों से संसार में कुछ प्राप्त कर सकता है।

137. || अप्रयत्नात् कार्यविघ्नः भवति ||
कार्य की सफलता के लिए आवश्यक प्रयत्न न करने पर ही कार्य में विघ्न आता है।

138. || न दैवपरायणानां कार्यसिद्धिः ||
जो लोग केवल भाग्य के भरोसे रहते हैं और प्रयास नहीं करते, उनके कार्य कभी पूर्ण नहीं होते।

139. || कार्यबाह्यः न पोषयति आश्रितान् ||
जो व्यक्ति अपने कर्तव्य से बचने का प्रयास करता है, वह अपने आश्रितों का पालन-पोषण नहीं कर सकता।

140. || यः कार्यं न पश्यति सः अन्धः ||
जो व्यक्ति अपने कर्तव्य को नहीं पहचानता, वह आँखों के होते हुए अंधा है।

141. ॥ प्राप्यप्राप्यनुसारं कार्यं निश्चितव्यं ॥
व्यक्ति को कार्य का निश्चय करने से पहले प्राप्त और अप्राप्त साधनों पर विचार करना चाहिए।

142. ॥ अपेक्ष्यकारिणं श्रीः परित्यजति ॥
जो व्यक्ति बिना विचार किए कार्य प्रारंभ करता है, उसे लक्ष्मी प्राप्त नहीं होती, वह दरिद्र हो जाता है।

143. ॥ परीक्ष्य तावत् विपत्तिः ॥
श्रेष्ठ पुरुष कार्य में आने वाली कठिनाइयों और विपत्तियों से डरते नहीं, बल्कि उन्हें दूर करने का प्रयास करते हैं।

144. ॥ स्वजनं तर्पयित्वा यः शेषं भुङ्क्ते सः अमृतभोजी ॥
अमृतभोजी व्यक्ति, अपने परिवार, बंधु-बांधवों, अतिथियों, दीन-दुखियों की आवश्यकताओं की पूर्ति करने के बाद शेष से स्वयं जीवन निर्वाह करता है।

145. ॥ न अस्मिन्भविष्योः कार्यचिन्ता ॥
कर्तव्यनिष्ठ पुरुष को भविष्य की चिंता नहीं होती। वास्तव में संघर्ष से बचने की भावना ही उसे कर्तव्यहीन बना देती है।

146. ॥ सर्वेषां व्यापाराधिकारं वर्धयन्ति ॥
जिस राष्ट्र में कृषि, व्यापार, उद्योग आदि कार्य राष्ट्रहित को सर्वोपरि रखकर होते हैं, वह राष्ट्र धन-धान्य से परिपूर्ण होता है और वहाँ की प्रजा समृद्ध व सुखी रहती है।

147. ॥ स्वामीस्वभावं ज्ञात्वा कार्यार्थी कार्यं साधयति ॥
॥ धेनोः स्वभावज्ञो जीवनं भुङ्क्ते ॥
जो व्यक्ति अपने स्वामी के स्वभाव को जानकर उसके अनुसार कार्य करता है, वह सफलता प्राप्त करता है; जैसे गाय से दूध प्राप्त करने वाला व्यक्ति उसके स्वभाव को जानकर ही दूध प्राप्त कर सकता है।

148. ॥ निन्द्रया गुह्यम् प्रकाशनं आत्मविनाशं कुर्यात् ॥
बुद्धिमान व्यक्ति अपने नीच और चंचल बुद्धि वाले सेवकों से अपनी गुप्त बातें प्रकट नहीं करता, क्योंकि इससे उसे लाभ नहीं, बल्कि हानि ही होती है।

149. || आश्रितैः अप्यवर्ण्यते दुर्बलस्वभावः ||
कोमल स्वभाव वाला व्यक्ति यदि अयोग्य, कुबुद्धि और अविवेकी व्यक्तियों पर निर्भर हो, तो अपमानित होता है।

150. || तीव्रदण्डः सर्वैः विरज्यते ||
छोटे अपराध पर भी अत्यधिक कठोर दण्ड देने वाला राजा सभी की घृणा और विरोध का पात्र बन जाता है।

151. || अल्पशान्तिः श्रुतवन्तं अपि न बहु मन्यते लोकः ||
जो व्यक्ति गंभीर नहीं है, उसे विद्वान होते हुए भी समाज प्रतिष्ठा की दृष्टि से नहीं देखता।

152. || अतिभारः पुरुषं शिथिलयति ||
अपनी शक्ति से अधिक कार्य करने वाला व्यक्ति उत्साहहीन होकर शीघ्र थक जाता है। मनुष्य को अपनी क्षमता के अनुसार ही कार्य करना चाहिए।

153. || यः संसदि विरोधात् दोषं शंसति सः स्वदोषप्रकाशं करोति ||
जो व्यक्ति व्यक्तिगत विरोध के कारण सभा में किसी के दोषों की आलोचना करता है, वह स्वयं को ही अपराधी घोषित करता है।

154. || यथार्हदण्डकारी स्यात् ||
राजा को योग्यतानुसार दण्ड देना चाहिए। यदि निर्दोष को दण्ड मिलता है, तो धर्म, कीर्ति और सुख, तीनों का नाश होता है। राजा को अपराध के कारण, परिस्थिति, समय और राष्ट्र पर प्रभाव को देखकर ही दण्ड देना चाहिए।

155. || आत्मनं एव नाशयन्ति अनात्मवतां क्रोधः ||
जिनका मन सुसंस्कृत नहीं होता, ऐसे अविवेकी लोग क्रोध के कारण स्वयं को ही हानि पहुँचाते हैं।

156. || नास्त्यप्राप्यं सत्यवतः ||
सत्य का आचरण संतोष को जन्म देता है। जिनके पास सत्यरूपी धन होता है, उनके लिए कुछ भी अप्राप्य नहीं होता।

157. || साहसेन न कार्यसिद्धिः भवति ||
केवल साहस पर निर्भर रहने से कार्य सिद्ध नहीं होता। इसके लिए सत्य, सूझबूझ और अनुभव की आवश्यकता होती है।

158. || व्यसनात् एकेन्द्रियत्वेन ||
जो व्यक्ति व्यसनों में फँसा होता है, वह किसी एक बात पर ध्यान केंद्रित नहीं कर पाता और अपने कर्तव्यों से विमुख हो जाता है।

159. || नास्ति अनन्तायः कालव्ययः ||
जो व्यक्ति समय का सदुपयोग नहीं करता, वह अपना जीवन व्यर्थ नष्ट करता है और कष्ट सहता है।

160. || असंशयविनाशात् संशयविनाशः श्रेयः ||
मृत्यु निश्चित है, इसलिए मनुष्य को कर्तव्य से विमुख नहीं होना चाहिए। संग्राम से बचने से मृत्यु से बचा नहीं जा सकता।

161. || परधनस्य नाशे केवलं स्वार्थं ||
दूसरों की अमानत को नष्ट करना केवल स्वार्थ सिद्धि है। ऐसा अनुचित है।

162. || नायार्थगतो अर्थवृद्धिः अपि पीडां जनयति ||
समाज में अज्ञानी लोगों द्वारा व्यर्थ बातों पर आचरण करने से मनुष्य का जीवन नष्ट हो जाता है।

163. || यः धर्मार्थयोः न विवेक्तव्यः सः कामः ||
जिस कर्म से न धर्म की वृद्धि होती है, न अर्थ की – वह केवल वासना कहलाती है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष – ये चारों पुरुषार्थ आवश्यक हैं।

164. || अपीड़ितः अनर्थसेवी ||
जो व्यक्ति धर्म और अर्थ के विरोधी कार्य करता है, वह अपने जीवन को व्यर्थ करता है और समाज में अशांति फैलाता है।

165. || ऋजुस्वभावः जनेषु दुर्लभः ||
स्वार्थपूर्ण समाज में निष्कपट, सरल और स्वार्थरहित व्यवहार करने वाले व्यक्ति बहुत ही दुर्लभ होते हैं।

166. || अवमान्येन आगतं च वित्तं न साधवः वर्तयन्ति ||
सज्जन व्यक्ति अधम उपायों से प्राप्त धन को स्वीकार नहीं करते। वे धन संग्रह को पुरुषार्थ से जोड़ते हैं।

167. || बहूनाम् गुणानाम् एकः दोषः ग्रसते ||
मनुष्य में यदि एक भी बड़ा दोष हो, तो वह उसके अनेक गुणों को भी नष्ट कर देता है। इसलिए आत्मचिंतन आवश्यक है।

168. || महात्मनः कार्यं साहसं न कर्तव्यम् ||
सत्य में आस्था रखने वाले महात्माओं को महत्वपूर्ण कार्य दूसरों पर नहीं छोड़ना चाहिए, उन्हें स्वयं ही करना चाहिए।

169 || कदाचित् अपि चरित्रं न लङ्घयेत् ||
कठिन परिस्थितियों में भी मनुष्य को अपने चरित्र का त्याग नहीं करना चाहिए, अन्यथा वह जीवनभर मानसिक क्लेश में रहता है।

170. || क्षुधितः अपि न तृणं चिन्दति सिंहः ||
सिंह भूखा होने पर भी घास नहीं खाता। उसी प्रकार, चरित्रवान व्यक्ति कठिन समय में भी अपने सिद्धांत नहीं छोड़ता।

171. || प्राणादपि प्रत्ययः रक्षितव्यः ||
प्राण संकट में हो, तब भी मनुष्य को अपने मूल्यों का त्याग नहीं करना चाहिए। सज्जनों से सदैव सज्जनता से व्यवहार करना चाहिए।

172. || पिशुनस्य श्रोता अपि पुत्रदारैः त्यज्यते ||
विश्वासघाती व्यक्ति को उसके पुत्र, पत्नी आदि परिवारजन भी त्याग देते हैं। यदि नहीं त्यागें, तो आपसी कलह की आशंका बनी रहती है।

173. || बालादप्यर्थजातं श्रृणुयात् ||
जैसे कीचड़ में पड़ा रत्न भी उठाकर रख लेना चाहिए, वैसे यदि कोई सामान्य व्यक्ति भी उपयोगी बात कहे, उसे बिना संकोच ग्रहण कर लेना चाहिए।

174. || सत्येऽप्यश्रद्धेयं न वदेत् ||
जिस व्यक्ति को सत्य में विश्वास नहीं है, उसके सामने सत्य की बात करना व्यर्थ है।

175. || नाल्पदोषाद्बहुगुणास्त्यज्यन्ते ||
किसी व्यक्ति के थोड़े दोषों को देखकर उसके अनेक गुणों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। व्यक्ति का मूल्यांकन उसके समग्र आचरण के आधार पर होना चाहिए।

176. || विपश्चित्स्वपि सुलभा दोषाः ||
ज्ञानी व्यक्तियों में भी त्रुटियाँ निकाली जा सकती हैं। केवल साधारण दोष देखकर किसी के ज्ञान या आचरण की निंदा नहीं करनी चाहिए।

177. || नास्ति रत्नं विगुणं क्वचित् ||
जिस प्रकार प्रत्येक रत्न में कोई-न-कोई दोष निकाला जा सकता है, वैसे ही विद्वानों में भी कुछ न कुछ त्रुटियाँ देखी जा सकती हैं।

178. || व्यथदातीतं न कदाचिदपि विश्वसेत् ||
जो व्यक्ति सामाजिक नियमों और मर्यादाओं का उल्लंघन करता है और समाजविरोधी प्रवृत्तियाँ फैलाता है, उस पर कभी विश्वास नहीं करना चाहिए।

179. || रजतं कनकसंगात् कनकं भवति ||
सोने के साथ मिश्रित चाँदी भी सोने जैसी लगती है। उसी प्रकार दुर्गुणी व्यक्ति भी सज्जनों के संग से गुणवान हो सकता है।

180. || अप्रियं कृतं प्रियत्वेन लेख्यं भवति ||
वास्तविक हित करने वाला का व्यवहार यदि अप्रिय लगे, तो उसे दूध में घुली हल्दी की भाँति मानना चाहिए, जो कड़वी होते हुए भी हितकारी होती है।

181. || न भाषित तुलाकोष्ठः कूपोदकं इव कोशः ||
जिस प्रकार बाल्टी कुएँ में झुककर ही जल निकालती है, उसी प्रकार कपटी व्यक्ति मीठे वचनों के माध्यम से स्वार्थसिद्धि करता है। ऐसे व्यक्ति पर कभी विश्वास नहीं करना चाहिए।

182. || सतां वचनं नातिक्रम्येत् ||
मनुष्य अपने विवेक से कार्य करता है, परंतु सत्पुरुषों के निर्णयों की अवहेलना करना उचित नहीं होता।

183. || गुणवदाश्रयात् निगुणोऽपि गुणी भवति ||
जो व्यक्ति गुणी, ज्ञानी, और श्रेष्ठ व्यक्तियों का संग करता है, वह स्वयं भी धीरे-धीरे गुणवान बन जाता है।

184. || क्षीराश्रितं जलं क्षीरेव भवति ||
दूध में मिला जल भी दूध जैसा ही हो जाता है। इसी प्रकार जो व्यक्ति सज्जनों का संग करता है, वह स्वयं भी सज्जन बन जाता है।

185. || सन्निपातपंकजोपि पाटलगन्धमुत्पादयति ||
पुष्पों के संग से मिट्टी में भी विशेष सुगंध आ जाती है। उसी प्रकार सज्जन पुरुष के सम्पर्क से सामान्य व्यक्ति भी सद्गुणी बन सकता है।

186. || उपकृत्यापकृतुः सन्त्यजन्ति बन्धवः ||
दुष्ट और पापी व्यक्ति अपने नीच कर्मों के कारण बदनामी से भयभीत नहीं होते। वे निःसंकोच पाप करते हैं।

187. || अर्थसिद्धये वैरिणां संगः न कर्तव्यः ||
अपने कार्य की सिद्धि के लिए शत्रुओं से सहयोग नहीं लेना चाहिए।

188. || अर्थसिद्धौ वैरिणं न विश्वासयेत् ||
अपने लक्ष्य की पूर्ति में शत्रु पर कभी विश्वास नहीं करना चाहिए।

189. || न पापकृतां आक्रोशः भयाय ||
दुष्ट, क्रूर और विवेकहीन व्यक्ति अपने हित में कार्य करने वालों को भी हानि पहुँचाने से नहीं चूकते।

190. || उत्साहवतां शत्रवोऽपि वशीभवन्ति ||
उत्साही व्यक्ति अपने कठिन कार्यों को भी सफलतापूर्वक पूरा कर लेते हैं। उनके उत्साह से शत्रु भी वश में आ जाते हैं।

191. || विक्रमधना राजानः ||
वीरता ही राजा का सबसे बड़ा धन होता है। जो राजा वीर नहीं, उसके लिए राज्य प्राप्त करना कठिन है।

192. || नास्त्यलस्यस्य हि कार्यसिद्धिः ||
आलसी व्यक्ति किसी कार्य में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। आलस्य मनुष्य की प्रगति में बाधा है।

193. || निरुत्साहात् दैवं पतति ||
उत्साह की कमी से मनुष्य अपने भाग्य को भी नष्ट कर देता है। केवल कायर व्यक्ति ही भाग्य का सहारा लेते हैं।

194. || यत्नात् सार्थं वर्तयेत् यथा जलचरः जलं प्रविश्य गृह्णाति ||
पुरुषार्थी व्यक्ति को अपने उद्देश्य की पूर्ति हेतु कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, जैसे मछुआरा जल में उतरकर मछली पकड़ता है।

195. || अविश्वस्तेषु विश्वासो न कर्तव्यः ||
राजा को चाहिए कि वह केवल उन्हीं व्यक्तियों पर विश्वास करे जिनकी विश्वसनीयता की परीक्षा हो चुकी हो।

196. || विषं विषमेव सर्वकाले ||
विष सदा विष ही रहता है। वह कभी अमृत नहीं बनता। इसी प्रकार दुष्ट व्यक्ति चाहे जैसे दिखें, विश्वास के योग्य नहीं होते।

197. || अर्थाधीना एव नियतसंबन्धाः ||
मनुष्यों के आपसी संबंध प्रायः अपने-अपने स्वार्थ पर आधारित होते हैं। निःस्वार्थ संबंध दुर्लभ हैं।

198. || शत्रौ अपि सुतं सखा विचिन्त्यः ||
यदि शत्रु का पुत्र भी अपने उद्देश्य में सहायक हो, तो उसकी रक्षा करना चाहिए। क्योंकि सत्य के पक्ष में खड़े होना ही धर्म है।

199. || यावत् शत्रुं न दृष्ट्वा तावद् हस्तेन वा स्कन्धेन वा वह्यात् ||
जब तक शत्रु पूरी तरह समझ में न आ जाए, तब तक उसे छल से या बल से वश में कर लेना चाहिए।

200. || शत्रु सिद्धे परिहरेत् ||
जब शत्रु की दुर्बलता का भेद मिल जाए, तब उस पर आक्रमण कर उसका नाश कर देना चाहिए।

201. || क्षीणद्रप्रहारिणः शत्रवः ||
शत्रु की दुर्बलता को पहचानकर उस पर आक्रमण करना चाहिए। इस प्रकार प्रहार करने वाला राजा शत्रु का नाश कर देता है।

202. || आत्मस्वमिद्रं न प्रकाशयेत् ||
राजा को अपनी दुर्बलताओं का परिचय शत्रु को नहीं देना चाहिए। अर्थात ऐसा प्रयास करना चाहिए कि उसकी दुर्बलताएँ शत्रु पर प्रकट न हों।

203. || हस्तगतेऽपि शत्रुं न विश्वसेत् ||
विजयी राजा को चाहिए कि सदैव सतर्क रहे, और अपने वश में आए हुए शत्रु पर भी कभी विश्वास न करे।

204. || स्वजनस्य दुष्कृतं निवारयेत् ||
बुद्धिमान राजा का कर्तव्य है कि अपने पक्ष के अधिकारियों तथा संबंधियों के पापपूर्ण कार्यों को रोकने का प्रयास करे।

205. || स्वजनापराधिनां अपि पौरुषाणां दुःखावहम् ||
यदि अपने पक्ष के लोग दुश्चरित्र हों और अपमानित हों, तो विचारशील व्यक्तियों को इससे दुःख होता है। अतः सज्जन पुरुष उन्हें सद्मार्ग पर लाकर सुधारने का प्रयत्न करें।

206. || एकाङ्गदोषः पुरुषं व्यसादयति ||
मनुष्य के शरीर के किसी एक अंग में भी यदि पीड़ा हो, तो समस्त शरीर कष्ट अनुभव करता है। उसी प्रकार राज्य, संस्था या दल के किसी एक सदस्य का दुराचार शासन-व्यवस्था को हानि पहुँचाता है।

207. || शत्रुं जयति सुवृत्तः ||
सदाचार के द्वारा भी शत्रु पर विजय प्राप्त की जा सकती है। आचार-संहिता का पालन करके व्यक्ति अपना सम्मान सुरक्षित रखते हुए दूसरों के सम्मान की भी रक्षा करता है। इससे राष्ट्र और स्वाभिमान की प्रतिष्ठा बनी रहती है।

208. || निकृष्टप्रियः नीचः ||
चाणक्य कहते हैं कि नीच प्रवृत्ति के लोग हर स्थान पर नीचता का प्रदर्शन करते हैं और सज्जनों के साथ कपटपूर्ण व्यवहार करते हैं।

209. || नीचस्य मतं न दातव्यम्, तेषु विश्वासो न कर्तव्यः ||
नीच प्रवृत्ति के लोगों से सलाह लेना उचित नहीं, क्योंकि वे अपना स्वार्थ नहीं छोड़ते। उन पर विश्वास भी नहीं करना चाहिए।

210. || चन्दनादीनपि दावाग्निः न विवेचयति इति ||
चंदन की शीतलता और सुगंध को न पहचानकर वन में लगी आग अन्य वृक्षों के साथ उसे भी जला डालती है।

211. || सुपूजितोऽपि दुर्जनः पीडयत्येव ||
उसी प्रकार यदि दुष्ट व्यक्ति के साथ उदारता से व्यवहार किया जाए, तो भी वह अवसर पाकर हानि पहुँचाने से नहीं चूकता।

212. || क्षम्यं चेत् पुरुषं न बाधेत् ||
क्षमा करना मनुष्य का धर्म है। इस बात को ध्यान में रखते हुए जो व्यक्ति क्षमा के योग्य हो, उसे कभी कष्ट नहीं देना चाहिए।

213. || कदापि पुरुषं न अवमंन्येत ||
किसी भी पुरुष का अपमान नहीं करना चाहिए। सज्जन लोग प्रत्येक व्यक्ति से वैसा ही व्यवहार करते हैं, जैसा वे अपने लिए उचित मानते हैं। जो व्यक्ति दूसरों का अपमान करता है, वह वास्तव में अपनी ही हीनता का प्रदर्शन करता है।

214. || भर्तृार्थाधिकं रहस्युक्तं वक्तव्यं न बोधितव्यं बुधैः ||
राजा द्वारा एकांत में कहे गए गोपनीय विषयों को जो बुद्धिहीन व्यक्ति प्रकट कर देते हैं, उनसे राजा को सदा सतर्क रहना चाहिए।

215. || अनुरागस्तु फलेन सूच्यते ||
किसी से प्रेम अथवा अनुराग का वास्तविक स्वरूप कथनों से नहीं, अपितु उसके कर्मों की सफलता से प्रकट होता है।

216. || प्रज्ञाफलम् ऐश्वर्यम् ||
बुद्धि का मुख्य फल ऐश्वर्य है। वास्तव में, बुद्धिमान व्यक्ति को संसार में श्रेष्ठ माना जाता है और वह सुख प्राप्त करता है।

217. || दातव्यं प्रभाषणशः क्लेशेन परिदास्यति ||
बुद्धिमान व्यक्ति दान के महत्व को समझता है, परंतु मूर्ख व्यक्ति इस बात को समझ नहीं पाता और उससे क्लेश अनुभव करता है।

218. || महान् ऐश्वर्यं प्राप्याप्यधृतिस्थान् विनश्यति ||
महान ऐश्वर्य की प्राप्ति ईश्वर की कृपा और अपने प्रयत्न से होती है। परन्तु धैर्यहीन व्यक्ति, राज्य या ऐश्वर्य पाकर भी नष्ट हो जाता है।

219. || नास्त्यधृतेः सुखकार्यसिद्धिः ||
धैर्यहीन पुरुष को न तो सांसारिक सुख प्राप्त होते हैं और न ही पारलौकिक लाभ।

220. ॥ न दुर्जनः सह संगः कर्तव्यः ॥
बुद्धिमान व्यक्ति को दुर्जनों के संग से बचना चाहिए। दुर्जन संगति से बचना ही लाभप्रद होता है।

221. ॥ शौण्डहस्तगतं पयः अप्यवर्जनीयम् ॥
यदि शराब बेचनेवाले के हाथ में दूध भी हो, तो वह भी त्याज्य ही समझा जाता है। दुष्ट व्यक्ति में कोई गुण हो भी, तो लोग उसे स्वीकार नहीं करते।

222. ॥ कार्यसंकटेऽर्थव्यवसायिनी बुद्धिः ॥
जब कोई कार्य संकट में हो, तो बुद्धिमान व्यक्ति धैर्यपूर्वक विचार कर उसका उपाय खोज लेता है, जिससे उसे सफलता प्राप्त होती है।

223. ॥ मितभोजनं स्वास्थ्यकरम् ॥
मनुष्य को जितनी भूख हो, उससे थोड़ा कम भोजन करना चाहिए। इससे उसका स्वास्थ्य ठीक रहता है।

224. ॥ पथ्यं अपथ्याजीनं न आहार्यं ॥
यदि अपथ्य खाने से अजीर्ण हो गया हो, तो पथ्य भोजन भी नहीं लेना चाहिए।

225. ॥ अजीर्णे भोजनं विषम् ॥
अजीर्ण की स्थिति में भोजन करना विष के समान होता है।

226. ॥ जीर्णे भोजनं व्याध्युपसर्पणम् ॥
भोजन पच जाने के बाद ही पुनः भोजन करना चाहिए; अन्यथा रोगों की आशंका रहती है।

227. ॥ अजीर्णे भोजनं दुःखाय ॥ शरीरं व्याधिग्रस्तं च ॥
अजीर्ण की अवस्था में भोजन करने का अर्थ है – निश्चित रूप से रोगों को आमंत्रण देना। इससे जीवन दुखमय हो जाता है। शरीर रोगों का घर है, और रोगों से बचने का उपाय है – अपनी क्षमता से अधिक भोजन न करना।

228. ॥ जीर्णशरीरे वृद्धावस्था व्याधिभिः उपसर्प्यते ॥
वृद्धावस्था में मनुष्य की इंद्रियाँ शिथिल हो जाती हैं, शरीर के अनेक तत्त्व नष्ट हो जाते हैं और नये तत्त्वों का निर्माण कठिन हो जाता है। यदि वृद्धावस्था में व्यक्ति रोगी रहने लगता है, तो उसे रोगों से अधिक सतर्क रहना चाहिए।

229. || शत्रोः अपि विषेण व्याधिः ||
रोग, शत्रु के विष से भी अधिक हानिकारक होते हैं। रोगों के कारण मनुष्य के प्राण, धन और शरीर का विनाश हो जाता है।

230. || दानं धनानुसारं कार्यम् ||
मनुष्य को दान उतना ही करना चाहिए, जितना धन हो। जो अपनी शक्ति से अधिक दान करते हैं, उन्हें पछताना पड़ता है।

231. || पटुता तृष्णापि सुलभसंधानम् ||
कुछ व्यक्ति अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए अनुचित रूप से अत्यधिक घनिष्ठता बढ़ाने का प्रयास करते हैं। ऐसे व्यक्तियों से सावधान रहना चाहिए।

232. || तृष्णया रक्षितो ध्यायते ||
लोभ के कारण मनुष्य की बुद्धि पर एक आवरण पड़ जाता है और वह ठीक प्रकार से विचार नहीं कर पाता। "तृष्णा नहीं जीर्ण होती, हम ही जीर्ण होते हैं।" मनुष्य में लोभ-लालच की भावना समाप्त नहीं होती, परंतु उसका शरीर धीरे-धीरे जीर्ण-शीर्ण होकर समाप्त हो जाता है।

233. || कार्यबहुत्वे बहुफलाय प्रयासः कर्तव्यः ||
जब मनुष्य के सामने अनेक कार्य हों, तो उसे सबसे अधिक महत्वपूर्ण और स्थायी परिणाम वाले कार्य को कर्तव्य के रूप में स्वीकार करना चाहिए।

234. || स्वयं एवावस्कन्नं कार्यं निरीक्ष्य सुधार्यम् ||
कार्य करते समय जो कार्य बिगड़ जाए, उन्हें स्वयं देखकर सुधारने का प्रयास करना चाहिए।

235. || मूर्खेषु साहसं नियतम् ||
मूर्खतापूर्ण कार्य करना मूर्खों का स्वभाव होता है।

236. || मूर्खेषु विवादः न कर्तव्यः ||
मूर्खों (जो उचित और अनुचित कार्यों का ज्ञान नहीं रखते) से किसी भी प्रकार का विवाद नहीं करना चाहिए।

237. || मूर्खेषु मूर्खवत् आचरेत् ||
मूर्खों से उसी प्रकार व्यवहार करना चाहिए जैसा कि मूर्ख करते हैं ।

238. ॥ नास्ति अधार्मिकः सखा ॥
अधार्मिक व्यक्ति किसी का सच्चा मित्र नहीं हो सकता।

239. ॥ आयसाऽयसं छिनत्ति ॥
लोहे को लोहे से ही काटा जाता है। दुष्ट और पतित व्यक्ति को उपदेश देकर उसके गलत स्वभाव को परिवर्तित नहीं किया जा सकता।

240. ॥ धर्मेण धार्यते लोकः ॥
इस संसार को केवल धर्म के द्वारा ही धारण किया जा सकता है। मानव समाज का संरक्षक सत्यरूपी धर्म ही है।

241. ॥ दया धर्मस्य जन्मभूमिः ॥
दया ही धर्म की जननी (उत्पत्ति का कारण) है।

242. ॥ धर्ममूलं सत्यदानम् ॥
धर्म की मूल भावना सत्य और दान है।

243. ॥ मृत्युना अपि धर्मस्थितं जीवति ॥
मृत्यु के बाद भी मनुष्य अपने धर्मयुक्त कर्मों के कारण जीवित रहता है।

244. ॥ प्रेत्य धर्मार्थधर्मानुगतिः ॥
मनुष्य के मरने के बाद भी उसके शुभ और अशुभ कर्म उसके साथ जाते हैं।

245. ॥ धर्मस्मदपि पापं यत्र प्रसज्यते ॥
॥ तत्र धर्मध्वजिनोऽधर्महता प्रसज्यन्ते ॥
जब संसार में धर्म के विरोधी पापपूर्ण कार्य होते हैं, तो धर्म से द्वेष करने वाले असुर धर्म का अपमान करते हैं, और धर्मपरायण जन कष्ट उठाते हैं।

"श्री मद्भागवत गीता में श्री कृष्ण ने कहा है"
"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत,
अभ्युत्थानम धर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।"

246. ॥ धर्मेण जयति लोकान् ॥
धर्म की रक्षा करने वाला मनुष्य समस्त लोकों को जीत सकता है। धर्मनिष्ठ और कर्मशील व्यक्ति ही विश्वविजेता कहलाते हैं।

247. || उपस्मृत्यवनाशानां प्रकृत्याकर्षेण लक्ष्यते ||
अधर्मोन्मुख असुरों का धर्म के विरुद्ध प्रबल होता आचरण उनके विनाश की सूचना देता है। मनुष्य अनुचित, पापपूर्ण कार्य करने लगता है।

248. || उपस्मृत्यवनाशो निःसंशयं ज्ञायते ||
जब मन में अधर्म की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, तो वह स्वयं उसके विनाश की सूचक होती है।

249. || आत्मविनाशं सूचयत्यर्थबुद्धिः ||
अनुचित, पापपूर्ण कार्यों से स्वयं व्यक्ति का ही विनाश होता है।

250. || परिहास्यं नैव श्रोतव्यम् ||
दूसरों की गुप्त बातें सुनने की इच्छा मन में नहीं होनी चाहिए। यह अपवित्र प्रवृत्ति का द्योतक है।

251. || पशुनिवेदनं रहस्यं ||
चुगलखोर (विश्वासघाती) को बताई गई गुप्त बात सुरक्षित नहीं रह सकती।

252. || वल्लभस्य काकत्वं न युक्तम् ||
स्वामी (राजा/नेता) का कठोर होना उचित नहीं माना जाता।राजा का कर्तव्य है कि वह अपने सेवकों का उचित ध्यान रखे।समय पर कठोर व्यवहार करना भी अनुचित नहीं है, लेकिन वह भी उचित रीति से हो।

253. || स्वजनेषु तिरस्कारो न कर्तव्यः ||
अपने हितैषियों की उपेक्षा (अनादर) नहीं करनी चाहिए।
अपना हित चाहने वाले व्यक्तियों का सदैव सम्मान करना चाहिए।

254. || मातापि दृष्टा त्याज्या ||
दुष्ट माता का भी त्याग कर देना चाहिए। दुष्ट व्यक्तियों से सदैव दूर रहना चाहिए।

255. || स्वहस्तोपि विषदग्धो छेद्यः ||
यदि अपने हाथ में भी विष फैल जाए, तो आत्मरक्षा हेतु उसे भी काट देना चाहिए।यदि कोई प्रिय संबंधी भी अहित करे तो उसे त्याग देना चाहिए।

256. ॥ परोऽपि हितो बन्धुः ॥

यदि कोई बाहरी व्यक्ति सांसारिक संबंध न होने पर भी आपके हित के अनुकूल व्यवहार करता है,तो उसे अपना बन्धु समझना चाहिए।

257. ॥ काष्ठादप्यौषधं गृह्णीयात् ॥

सूखे वन से भी औषधियाँ प्राप्त की जा सकती हैं। यदि कोई व्यक्ति सांसारिक दृष्टि से तुच्छ हो, फिर भी हित करता है, तो उसे स्वीकार करना चाहिए।

258. ॥ चौरेषु न कदापि विश्वासः ॥

चोरों पर कभी भी विश्वास नहीं करना चाहिए।

259. ॥ अप्रतीकारेष्वनादरो न कर्तव्यः ॥

जहाँ विरोध (प्रतिकार) की सम्भावना न हो,वहाँ भी उपेक्षा का भाव नहीं रखना चाहिए।राजा को सदा सतर्क रहना चाहिए।

260. ॥ व्यसनं नागपि बाधते ॥

विपत्ति या दुर्व्यसन को छोटा समझकर उपेक्षा न करें। छोटा-सा व्यसन भी किसी समय सर्वनाश का कारण बन सकता है।

261. ॥ अर्थवदर्थजातर्जथयेत् ॥

मनुष्य का कर्तव्य है कि वह अपने जीवन में धर्म और सत्याचरण पर आधारित रहकर जीवनोपयोगी वस्तुओं और धन का संग्रह करे।

262. ॥ अर्थवान् सर्वथाऽपि लोकस्य बन्धुः ॥

धनवान् व्यक्ति सर्वत्र समाज में सम्मानित होता है। आज की परिस्थिति को देखते हुए चाणक्य का यह कथन अक्षरशः सत्य है।

263. ॥ न ह्यर्थहीनं बहुमान्यते लोकः ॥

इस संसार में निर्धन (धनहीन) राजा को भी सम्मान प्राप्त नहीं होता।

264. ॥ दारिद्र्यं खलु पुरुषस्य जीवनं निरयः ॥

दरिद्र (गरीब) व्यक्ति का जीवन जीते हुए भी नरक के समान होता है।

265. ॥ स्वरूपोऽर्थवान् सुरूपः ॥

यदि कोई कुरूप व्यक्ति धनवान और बुद्धिमान है, तो उसे भी सुंदर मान लिया जाता है।

266. || अदाताऽप्यर्थवाञ्छार्थिनो न त्यजन्ति ||
धन-संग्रह की इच्छा रखने वाले लोग, कंजूस धनवान् से भी धन प्राप्ति की आशा रखते हैं।

267. || अकुलीनोऽपि कुलीनाद्विशिष्टः ||
यदि कोई व्यक्ति अच्छे कुल में उत्पन्न नहीं हुआ है, परन्तु वह अपने धन को समाजसेवा में लगाता है, तो वह उस कुलीन व्यक्ति से भी श्रेष्ठ है, जो समाज सेवा से विमुख है।

268. || नास्त्यभयं नायथस्य ||
नीच व्यक्ति को समाज में न तो मान-अपमान का भय होता है और न ही तिरस्कार का।

269. || न चेतनवतां वृथा भयम् ||
व्यवहार-कुशल अथवा चतुर व्यक्ति अपनी आजीविका चलाने के लिए किसी का मोहताज नहीं होता।

270. || न जितेन्द्रियाणां विषयभयम् ||
जिस व्यक्ति ने अपनी इन्द्रियों पर विजय पा ली है, वह विषय-भोगों के निकट रहकर भी चरित्रभ्रष्ट होने की सम्भावना से मुक्त रहता है।

271. || न कृतार्थानां मरणभयम् ||
जो व्यक्ति इस संसार में अपने जीवन की सार्थकता को समझकर अपने कर्तव्यों का पालन करता है, उसे मृत्यु का कोई भय नहीं होता।

272. || फलार्थं परद्रव्यं न हर्तव्यम् ||
स्वार्थ के लिए पराए धन की चोरी किसी भी प्रकार से नहीं करनी चाहिए।

273. || कस्यचिदर्थं स्वार्थं मन्यते साधुः ||
सज्जन व्यक्ति दूसरों के धन को भी अपने ही धन के समान मानते हैं और उसे सत्य की धरोहर समझकर सत्कार्यों में प्रयोग करते हैं।

274. || परधनेष्वादिको न कर्तव्यः ||
दूसरे के धन के प्रति लालसा नहीं रखनी चाहिए। पुरुषार्थ से जो संपत्ति अर्जित हो, उसी में संतोष करना चाहिए।

275. || परधनेष्वादिदोषः विनाशकारकः ||
दूसरे के धन, संपत्ति और वैभव की लालसा करना विनाश का कारण बन सकता है।

276. || परद्रव्यापहरणं आत्मद्रव्यनाशहेतुः ||
पराए धन की चोरी अपने ही धन के विनाश का कारण बन जाती है।

277. || न चौर्यत् पिङ्ग ऋत्युपाशः ||
चोरी से बढ़कर कोई भी अधिक कष्ट देने वाला बंधन नहीं है।
चोरी का फंदा मृत्यु के फंदे से भी अधिक दुखदायी होता है।

278. || यवागूर्पि प्राणधारिणां प्रियं लोके ||
प्राण-रक्षा के लिए उचित समय पर जौ का दलिया अन्न का घोल ग्रहण करना लाभकारी होता है। ऐसा आहार जीवन रक्षक बन सकता है।

279. || न मृतस्यौषधं प्रयोजनम् ||
मृत्यु के बाद औषधियों का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता।
अतः समय के अनुकूल ही साधनों का प्रयोग करना चाहिए।

280. || समकाले स्वार्थं प्रभुत्वस्य प्रयोजनं भवति ||
शांतिपूर्ण समय में भी अपने प्रभुत्व को बनाए रखना एक कर्तव्य हो जाता है।

281. || पयःपानं विषवर्धनं भुजंगस्य नामृतं स्यात् ||
साँप को दूध पिलाना विष की वृद्धि करना है, अमृत देना नहीं।

282. || नीचस्य विद्या पापकर्मणि योजयति ||
नीच पुरुष का ज्ञान और विद्या उसे पापकर्मों में ही प्रवृत्त करती है।

283. || नीचस्य विद्या नोपेतेया ||
उस ज्ञान को नहीं अपनाना चाहिए जो दुष्ट प्रवृत्ति के व्यक्ति से प्राप्त हो।

284. || न हि धान्यसमः अर्थः || न निद्रासमः शत्रुः ||
अन्न के समान संसार में कोई दूसरा उपयोगी पदार्थ नहीं है और भूख से बढ़कर मनुष्य का कोई दूसरा शत्रु नहीं है। भूखा मनुष्य रक्षित, अरक्षित किसी भी वस्तु को खाने को विवश हो जाता है।

285. ॥ नास्त्यभक्ष्यं विषधतस्य ॥
जो व्रतधारी है, उसके लिए कुछ भी अखाद्य नहीं होता। दुर्भिक्ष में लोग घास, वृक्षों की पत्तियाँ, उनकी छाल, मिट्टी में गिरे अन्न के अंश और मनुष्यों के लिए अखाद्य मांस आदि भी खा लेते हैं।

286. ॥ अकृतेऽर्थनिष्ठता न स्यात् ॥
आलसी और निष्क्रिय व्यक्ति तथा उसके आश्रितों को अक्सर भूख का कष्ट सहना पड़ता है।

287. ॥ इस्मिन्याश्रयणं जरा वृद्धत्वं कुवत्स्मिन् ॥
इंद्रियों के अत्यधिक दुरुपयोग से मनुष्य समय से पहले ही वृद्ध हो जाता है।

288. ॥ विशेषज्ञं स्वामिनं आश्रयेत् ॥
विद्वान अथवा विशेषज्ञ स्वामी का आश्रय लेना चाहिए।

289. ॥ सानुक्रोशं भर्तारं आजीवेत् ॥
ऐसे स्वामी की सेवा से आजीविका कमानी चाहिए, जो दयालु हो, मानवता का सम्मान करता हो और गुणों का आदर करता हो।

290. ॥ लुब्धसेवी पावके दीपं धर्षति ॥
जैसे जुगनू की रोशनी से आग नहीं जलाई जा सकती, वैसे ही कपटी स्वामी की सेवा करने वाला सेवक सदा कष्ट पाता है। उसकी इच्छाएं पूरी नहीं होतीं।

291. ॥ पुरुषस्य मैथुनं जरा ॥
अत्यधिक मैथुन करने से पुरुष समय से पूर्व ही बूढ़ा हो जाता है।

292. ॥ स्त्रीनां अमैथुनं जरा ॥
स्त्रियों को यदि रजःस्वला होने के बाद मैथुन उचित मैथुन सुख न मिले तो वे भी जल्दी वृद्ध हो जाती हैं।

293. ॥ न नीचः उर्ध्वयोः विवाहः ॥
विवाह में केवल कुल, विचारों और सामाजिक स्थिति की समानता आवश्यक होती है। जहाँ असमानता होती है, वहाँ दुःख उत्पन्न होते हैं।

294. ॥ अगम्यागमनात् आयुः यशः पुण्यं च हीयते ॥
वेश्याओं आदि स्त्रियों से संबंध बनाने से आयु, यश और पुण्य नष्ट हो जाते हैं।

295. || नास्ति अहंकारसमः शत्रुः ||
अहंकार से बड़ा मनुष्य का कोई शत्रु नहीं है। योग्यता से आत्मसम्मान आता है, जबकि अहंकार अयोग्य व्यक्ति में होता है।

296. || सभायां शत्रुं न परिक्रोशेत् ||
सभा या समाज में शत्रु अथवा विरोधियों की निंदा (कटु वचन) नहीं करनी चाहिए, और सभा को विवाद का केंद्र नहीं बनाना चाहिए।

297. || शत्रुं न निन्देत् सभायाम् ||
बुद्धिमान लोग सभा, गोष्ठी आदि में अपने शत्रु की निंदा नहीं करते। वे केवल तब प्रतिक्रिया करते हैं जब उनका व्यक्तिगत अपमान हुआ हो। लेकिन यदि समाज में उनका अपमान हो तो वे अधिक शत्रुता पाल लेते हैं।

298. || शत्रोः व्यसनं श्रवणसुखम् ||
शत्रु पर विपत्ति आने की बात सुनकर अधिकतर लोगों को प्रसन्नता होती है।

299. || अधनस्य बुद्धिनाशः ||
धनहीन व्यक्ति की बुद्धि नष्ट हो जाती है।

300. || हितोपदेशं अधनस्य न शृणोति ||
कोई भी निर्धन व्यक्ति की हितकारी बातों को नहीं सुनता।

301. || अधनः स्वभावतः अप्यवर्ण्यते ||
धनहीन व्यक्ति को उसका अपना स्वभाव भी तिरस्कृत कर देता है। ऐसे व्यक्ति का अपमान, उसकी पत्नी उसके परिवार, बंधु-बांधवों और मित्रों में भी होता है। मनुष्य को आलस्य त्यागकर वैध उपायों से धन संचय करना चाहिए।

302. || पुष्पहीनं साकं नोपासते भ्रमराः ||
जैसे आम या अन्य वृक्ष में जब पुष्प नहीं रह जाते, तो भ्रमर भी उसे त्याग देते हैं; वैसे ही संसार भी निर्धन व्यक्ति को त्याग देता है।

303. || विद्या धनं निर्धनानाम् ||
विद्या ही निर्धन व्यक्ति का धन होती है। निर्धन व्यक्ति का सम्मान और उसकी प्रतिष्ठा उसके ज्ञान के कारण होती है।

304. || विद्या चौरैरपि न ग्राह्या ||
विद्या मनुष्य का ऐसा श्रेष्ठ गुण और धन है जिसे चोर भी चुरा नहीं सकते।

305. || विद्यया ख्यातिः ख्यातेः ||
विद्वान व्यक्ति द्वारा विद्या का दान देने से विद्वान की कीर्ति फैलती है। विद्वान व्यक्ति की योग्यता दीपक की तरह स्वयं प्रकाशित हो जाती है।

306. || यशः शरीरं न विनश्यति ||
मनुष्य का शरीर तो एक दिन नष्ट हो जाता है, परंतु उसके सत्कर्मों और सद्‌गुणों से प्राप्त कीर्ति इस संसार में अमर बनी रहती है।

307. || यः परार्थं उपसर्पति सः सत्पुरुषः ||
जो मनुष्य दूसरों के दुःख को अपना समझकर उनके कल्याण के लिए आगे आता है, वही वास्तव में सत्पुरुष कहलाता है।

308. || स्त्रियाणां प्रशंसा शास्त्र्याः ||
स्त्रियों को शास्त्र के ज्ञान द्वारा ही संयमित किया जा सकता है या उन्हें उचित मार्ग पर रखा जा सकता है।

309. || अशास्त्रकारिणां वृत्तिं शास्त्रांकुशः निवारयति ||
जो व्यक्ति समाजविरोधी कार्यों के लिए प्रवृत्त होते हैं, उन्हें शास्त्र का अंकुश ही संयमित कर सकता है। ज्ञानी व्यक्ति अवैध कार्यों से स्वयं, रोक सकता है।

310. || म्लेच्छभाषणं न श्रयेत् ||
म्लेच्छों (अशिष्ट या अपवित्र लोगों) की भाषा का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

311. || म्लेच्छानामपि सुवचं ग्राह्यम् ||
दुष्ट या अपवित्र व्यक्ति की भी यदि कोई बात अच्छी हो, तो उसे अपनाना चाहिए।

312. || गुणे नोत्सुकः कर्तव्यः ||
दूसरों के अच्छे गुणों या उत्कर्ष को देखकर ईर्ष्या नहीं करनी चाहिए। ईर्ष्या से कोई लाभ नहीं होता।

313. || शत्रोः अपि सुगुणः ग्राह्यः ||
शत्रु में भी यदि कोई अच्छा गुण दिखाई दे, तो उसे अपनाना चाहिए।

314. ॥ विषादप्यमृतं ग्राह्यम् ॥
यदि विष में भी अमृत (कड़वा परंतु हितकारी उपदेश या औषध) हो, तो उसे भी ग्रहण कर लेना चाहिए।

315. ॥ अवस्थितः पुरुषः सम्मान्यते ॥
राजा भी तभी सम्मान का अधिकारी बनता है जब वह राज्य व्यवस्था में योग्य और अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न करता है।

316. ॥ स्नान एव निः पूज्यन्ते ॥
जिस क्षेत्र में व्यक्ति श्रेष्ठ बनता है, वहाँ उसकी योग्यता से परिचित लोग उसका सम्मान करते हैं।

317. ॥ आयतवृत्तानुष्ठेयं ॥
मनुष्य को चाहिए कि वह सदा श्रेष्ठ पुरुषों के नीति-पूर्वक सभ्य आचरण का अनुसरण करे।

318. ॥ कदापि मर्यादां नातिक्रामेत् ॥
व्यक्ति को चाहिए कि वह समाज की सीमाओं और मर्यादाओं का पालन करते हुए ही आचरण करे। कभी भी उनका उल्लंघन न करे।

319. ॥ न स्त्रीरत्नसमं रत्नम् ॥
स्त्री-रत्न से बढ़कर कोई दूसरा अमूल्य रत्न नहीं होता। सच्चरित्र स्त्री किसी परिवार के लिए लक्ष्मी के रूप में सम्मान का कारण होती है। देश के निर्माण में भी अपने उत्तरदायित्व को निभाने वाली स्त्री की उपमा रत्न से दी जाती है।

320. ॥ नास्त्यर्थः पुरुषरत्नस्य ॥
विद्वान और गुणी व्यक्ति किसी भी राष्ट्र और समाज के लिए अमूल्य रत्न होते हैं। किसी भी क्षेत्र में की गई उनकी सेवाओं और कार्यों का राष्ट्र के लिए बहुत महत्व होता है।

321. ॥ सुलभं रत्नम् न ॥
संसार में रत्नों की प्राप्ति बहुत कठिन है। समाज को अलंकृत करने वाले स्त्री और पुरुषों को 'रत्न' कहा जाता है। जिसमें सौंदर्य हो, तेज हो, चारित्रिक आकर्षण हो—उसे रत्न कहा जाता है। विद्वान और गुणी व्यक्ति राष्ट्र और समाज के लिए अमूल्य रत्न होते हैं।

322. ॥ न स्त्रैणस्य स्वर्गसिद्धिर्धर्मकृत्यं च ॥
नपुंसक स्वभाव वाले पुरुष को न तो स्वर्ग की प्राप्ति होती है, और न ही वह कोई धर्मकार्य कर पाता है।

323. ॥ समस्ताः स्त्रियः स्त्रैणैः वर्जयन्ते ॥
सभी स्त्रियाँ स्त्रैण स्वभाव वाले पुरुषों का तिरस्कार कर देती हैं।

324. ॥ न पुष्पार्थी सिञ्चति शुष्कतरुम् ॥
फूलों का इच्छुक व्यक्ति कभी सूखे पेड़ को नहीं सींचता। प्रत्येक व्यक्ति को अपने लक्ष्य के अनुसार ही कार्य करना चाहिए।

325. ॥ अयशः भयम् भयेषु ॥
सभी प्रकार के भय में अपयश का भय सबसे बड़ा होता है।

326. ॥ नास्त्यलस्य शास्त्राधिकारः ॥
आलसी व्यक्ति को किसी भी शास्त्र का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता।

327. ॥ अद्रव्यप्रयत्नः बालुकातैलनयनवत् ॥
बिना किसी साधन के प्रयास करना और धन प्राप्ति की इच्छा रखना वैसा ही है जैसे बालू से तेल निकालने का प्रयत्न करना।

328. ॥ न महाजनहास्यं कर्तव्यम् ॥
महान, सत्यनिष्ठ व्यक्तियों का उपहास नहीं करना चाहिए।

329. ॥ कार्यसंपत्तिर्निर्णीयते सूच्यस्मात् ॥
किसी कार्य की सफलता या असफलता, कार्य करते समय दिखने वाले उत्साह आदि संकेतों से ज्ञात हो जाती है।

330. ॥ नक्षत्रादपि निर्णीयते विशेषः ॥
इसी प्रकार नक्षत्रों आदि से भी कार्य के सफल होने की संभावना जानी जाती है। इसलिए कर्तव्य-पालन में विलंब नहीं करना चाहिए।

331. ॥ न त्वरितस्य नित्रपीणा ॥
अपने कार्य की शक्ति पर भरोसा करने वाला व्यक्ति नक्षत्रों की गणना करके अपने भाग्य की परीक्षा नहीं करता। वह आत्मविश्वास और कार्यशक्ति से जुड़े उपायों पर ही ध्यान रखता है।

332. || परिचये दोषा न बाध्यन्ते ||
जिससे मनुष्य पूर्णतः परिचित हो जाता है, उसके सभी गुण और दोष उस पर प्रकट हो जाते हैं।

333. || स्वयंशुद्धः परानाशङ्कते ||
जो व्यक्ति अपने आचरण से भ्रष्ट होता है, वह संसार में किसी को भी शुद्ध आचरण वाला नहीं मानता।

334. || स्वभावो दुष्टतरः ||
स्वभाव को बदलना बहुत कठिन होता है। मनुष्य चाहे ज्ञान युक्त हो या अज्ञानयुक्त वह उसी के अनुसार आचरण करता है।

335. || अपराधानुरूपो दण्डः ||
अपराधियों को उनके अपराध के अनुरूप ही दण्ड दिया जाना चाहिए।

336. || दण्डः शासनस्य प्रजाः सर्वाः दण्ड एवाभिभाषितः ||
दण्ड देना शासन का कर्तव्य होता है। इससे प्रजा में सुरक्षा की भावना बढ़ती है।

337. || दण्डः सुप्तेषु जागर्ति, दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ||
दण्ड, अपराध के अनुसार ही दिया जाना चाहिए। इसी कारण कहा गया है कि वह सोते हुए भी जाग्रत रहता है। दण्ड राजधर्म का आवश्यक अंग है।

338. || प्रश्नानुरूपं प्रतिवचनम् ||
प्रश्न के अनुसार ही उत्तर देना चाहिए। उत्तर संक्षिप्त और विषय के अनुकूल होना चाहिए।

339. || स्वाम्यनुकूलो भृत्यः ||
सेवक को अपने स्वामी के अनुकूल ही कार्य करना चाहिए।

340. || स्वामिश्रितं कुर्याद्भृत्यः, स्वामिनैवानुवर्तेत ||
स्वामी की इच्छा के अनुसार ही सेवक को कार्य करना चाहिए और उसी के निर्देशों का पालन करना चाहिए।

341. || वयोअनुरूपो वेषः ||
मनुष्य को अपनी आयु के अनुसार ही वेशभूषा धारण करनी चाहिए।

342. ॥ विभवानुरूपाभरणम् ॥
मनुष्य को अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार ही आभूषण पहनने चाहिए — "ताने पैर पसारिए, जेती लांबी सौर।"

343. ॥ कार्यानुरूपः प्रयत्नः ॥
जैसा कार्य हो, प्रयत्न भी उसी के अनुसार किया जाना चाहिए।

344. ॥ कुलानुरूपं वृत्तिः ॥
व्यक्ति को अपने कुल की मर्यादा के अनुरूप ही आचरण और व्यवसाय करना चाहिए।

345. ॥ पात्रानुरूपं दानम् ॥
दान, पात्र की योग्यता के अनुसार ही देना चाहिए।

346. ॥ भार्या धर्मपत्नी गार्हस्थ्यस्य सहधर्मिणी ॥
पति के साथ रहने वाली पत्नी ही भरण-पोषण की अधिकारी होती है। गार्हस्थ जीवन रूपी रथ को चलाने के लिए पति और पत्नी दोनों पहियों के समान होते हैं। दोनों का जीवन लक्ष्य एक ही होना गार्हस्थ्य के कल्याण हेतु आवश्यक है।

347. ॥ गुरुवशानुवर्ती शिष्य: ॥
शुद्ध पाठ: शिष्य को सदा गुरु की इच्छा के अधीन रहकर कार्य करना चाहिए। गुरु ही को सब प्रकार की विद्याओं का ज्ञान देते हैं, जिससे शिष्य के ज्ञान-चक्षु खुलते हैं। गुरु के बिना शिष्य का कल्याण नहीं हो सकता।

348. ॥ पितृवशानुवर्ती पुत्र: ॥
परिवार में सुख और शांति के लिए आवश्यक है कि पुत्र पिता की आज्ञा के अनुरूप ही कार्य करे। उसे पिता के अनुभवों से लाभ उठाना चाहिए।

349. ॥ मातृताडितो वत्सो मातरमेवानुद्रवति ॥
माता के द्वारा ताड़ित किया गया बच्चा भी माता के पास जाकर ही रोता है। स्नेह करने वाले व्यक्तियों का क्रोध क्षणिक और अहितकर नहीं होता।

350. ॥ स्नेहवत: स्वल्पोऽपि दोष: ॥
अपने हितैषियों, संबंधियों तथा गुरुओं के कुपित हो जाने पर भी उन्हें त्यागना नहीं चाहिए। अपनी त्रुटियों का सुधार कर उन्हें प्रसन्न करने का प्रयास करना चाहिए।

351. || आत्मदोषं न पश्यति परदोषमेव पश्यति बालिशः ||
मूर्ख व्यक्ति अपने दोषों को नहीं देखता, वह केवल दूसरों के दोषों को ही देखता है।

352. || विप्राणां भूषणं वेदः ||
ज्ञान (कर्तव्य का ज्ञान, विद्या, परहित में समर्थ, सत्यनिष्ठ, विनम्र, सौम्य व्यवहार कुशल) ही ब्राह्मणों का भूषण है।

353. || सर्वेषां भूषणं धर्मः ||
सभी व्यक्तियों का सच्चा भूषण धर्म है। (गुणहीन, कर्तव्यविहीन, धर्महीन, ज्ञानहीन, विनम्रता व सत्संग के बिना व्यक्ति जितना शरीर को सजाए, उससे कोई लाभ नहीं) ।

354. || भूषणानां भूषणं सेवनीय विद्या ||
विनय से युक्त विद्या सभी भूषणों का भूषण है। नम्रता एवं व्यवहार कुशलता से युक्त विद्वान व्यक्ति को सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। (यदि व्यक्ति में अभिमान हो, धर्म, सत्य, ज्ञान, विनम्रता, सौम्यता और व्यवहारकुशलता का अभाव हो, तो शरीर की सजावट व्यर्थ है।)

355. || अनुपद्रवं देशमावसेत् ||
उस देश में नहीं रहना चाहिए जहाँ उपद्रव होते रहते हैं। वास्तव में वही राष्ट्र रहने योग्य होता है जहाँ अधिकांश लोग सत्य, कानून और लोक-मर्यादा में विश्वास रखते हैं।

356. || साधुजनबहुलो देशः ||
वास्तव में वही देश निवास के योग्य होता है जहाँ सज्जन पुरुषों का निवास हो, अधिकतर लोग सत्य, न्याय और मर्यादा में विश्वास रखते हैं।

357. || सोपचारः कैतवः ||
धूर्त व्यक्ति स्वार्थ के लिए सेवा करते हैं। ऐसे लोगों से सदा सतर्क रहना चाहिए।

358. || काम्येष्वर्थेषु रुपचार उपचारः ||
किसी विशेष इच्छा की पूर्ति के लिए की गई सेवा को "उपचार" कहते हैं। चतुर लोग किसी का भेद जानने के लिए भी सेवा करते हैं।

359. || षड्विधपरिचरणार्होऽपचारः संशयकत्व्यः ||
अत्यधिक घनिष्ठ और परिचित व्यक्तियों की अनुचित सेवा से मन में संदेह उत्पन्न होता है।

360. || अत्युपचारः संशयकत्व्यः ||
अत्यधिक आदर से मन में संदेह उत्पन्न होता है, क्योंकि आगंतुक किसी विशेष प्रयोजन या अनुचित कार्य की इच्छा रखता है।

361. || गवां तु दुग्धिका शतसहस्रादेका श्रेयसी ||
दूध न देने वाली हजारों गायों की तुलना में एक दूध देने वाली गाय श्रेष्ठ होती है। उसी प्रकार, एक उपकारी व्यक्ति अनेक परिचित ठगों से श्रेष्ठ होता है।

362. || श्वः प्रयुज्यते कपोतः वरं ||
कल वाले मोर की तुलना में उपलब्ध कबूतर अधिक अच्छा होता है। बादलों को देखकर घड़ा फोड़ देना मूर्खता है। वर्तमान की सामान्य स्थिति की उपेक्षा करके कल प्राप्त होनेवाली बड़ी आशा के भरोसे रहना मूर्खता है।

363. || अतिप्रसंगो दोष उत्पादयति ||
अत्यधिक और अनावश्यक संपर्क से दोष उत्पन्न होते हैं।

364. || सर्वं जयति अक्रोधः ||
जो व्यक्ति क्रोध से रहित होता है, वह सबको अपना बना लेता है और अपने स्वभाव के कारण विजयी हो जाता है।

365. || यदि अपकारिणि कोपः, कोपे कोप एव कर्तव्यः ||
यदि बुराई करनेवाले पर क्रोध उचित है, तो भलाई करनेवालों पर क्रोध करना स्वयं क्रोध पर ही क्रोध करने जैसा है।

366. || न वादः मूर्खैः, शत्रुभिः, गुरुभिः, वल्लभैः च कर्तव्यः ||
बुद्धिमान मनुष्य को मूर्ख, शत्रु, गुरु और प्रियजनों के साथ विवाद नहीं करना चाहिए।

367. || नास्ति धनवतां सुकार्येषु श्रमः ||
धनवान लोगों को अच्छे कार्यों में विशेष श्रम नहीं करना पड़ता। उनकी प्रवृत्ति भी अच्छे कार्यों की ओर नहीं होती।

368. ॥ नास्ति ऐश्वर्यवत्यः च शयथर्थम् ॥
जिनके पास ऐश्वर्य होता है, वे प्रायः भोगविलास और बुरी प्रवृत्तियों की ओर आकर्षित हो जाते हैं।

369. ॥ नास्ति गतिशीलस्य यातनाः ॥
जो व्यक्ति वाहन या मार्ग पर यात्रा करता है, उसे यात्रा का कष्ट नहीं होता।

370. ॥ अलोहेयं शृङ्खलं कलत्रम् ॥
पत्नी बिना लोहे की बेड़ी के समान है। विवाह एक स्वेच्छा धर्म-बंधन है, जो स्वतः अनुचित कार्यों पर नियंत्रण करता है।

371. ॥ यः यस्मिन् कुशलः, सः तस्मिन् योज्यः ॥
जो व्यक्ति जिस कार्य में कुशल हो, उसे उसी कार्य में नियुक्त करना चाहिए। अनजाने कार्य में नियुक्त करने से हानि होती है।

372. ॥ दुष्टकलत्रं मनस्विनां शरीरीकं क्षीणत्वं ददाति ॥
यदि पत्नी दुष्ट और कुप्रवृत्तियों वाली हो, तो वह मनस्वी व्यक्ति के शरीर को दुर्बल बना देती है।

373. ॥ स्त्रीषु शक्यं किञ्चिदपि न विश्वासः ॥
कुप्रवृत्तियों वाली स्त्रियों पर किंचित् मात्र भी विश्वास नहीं करना चाहिए।

374. ॥ न साक्षाद्धः स्त्रीषु लोकज्ञता च ॥
स्त्रियों में विवेक और लोक-व्यवहार की कुछ सीमा होती है। उनका स्वभाव चंचल होता है। पुरुष को ऐसा प्रयास करना चाहिए कि उसकी पत्नी बुरे मार्ग पर न जा सके।

375. ॥ अप्रत्यूह्यो दारान् चिन्तयेत् ॥
गृहस्थ धर्म आपसी विश्वास के बिना नहीं चल सकता। व्यक्ति को चाहिए कि वह बड़ी सूझबूझ से स्त्रियों के साथ व्यवहार करे।

376. ॥ गुरूणां माता गरीयसी ॥
गुरुओं में माता का स्थान सर्वोच्च होता है। (आचार्य का पद उपाध्याय से दस गुना ऊँचा है, पिता का पद आचार्य से सौ गुना ऊँचा है, और माता का पद तो पिता से भी सहस्त्रों गुना ऊँचा होता है।)

377. || सर्वावस्थासु माता वन्द्या ||
मनुष्य को जन्म देने वाली माता होती है, इसलिए उसका कर्तव्य है कि वह हर अवस्था में माता का सम्मान करे, उसे उचित गरिमामय स्थान दे और पालन-पोषण का ध्यान रखे।

378. || विदुषां लघुतां नीयात् आलिङ्गनं लोकद्वेष्टृणाम् ||
विद्वान लोगों के लिए बनावटीपन और विद्वत्ता विरोधी आचरण अनुचित है, जिससे उनके पाण्डित्य पर आक्षेप लगता है।

379. || तादृशः स राजा इह सुखं ततः स्वर्गमाप्नोति ||
जो राजा प्रजा का पालन करता है और धर्मपूर्वक न्याय करता है, वह इस लोक में सुख भोगता है और परलोक (स्वर्ग) को प्राप्त करता है।

380. || न्याययुक्तं राजानं माता इव मन्यन्ते प्रजाः ||
जो राजा न्यायप्रिय होता है, उसे प्रजा माता के समान मानती है। ऐसा प्रजाप्रिय राजा इस लोक और परलोक—दोनों में सुख प्राप्त करता है।

381. || चोरांश्च कण्टकांश्च सततं विनाशयेत् ||
राजा का कर्तव्य है कि वह प्रजा की रक्षा के लिए चोरों, दुष्टों और शासन में बाधा पहुँचाने वालों का सतत नाश करता रहे।

382. || अहिंसालक्षणो धर्मः ||
अहिंसा ही धर्म का लक्षण है। धर्म का प्रचार अहिंसा से ही होता है। हिंसा धर्म के मार्ग में बाधा उत्पन्न करती है।

383. || स्वशरीरवत् परशरीरं मन्यते साधुः ||
सज्जन व्यक्ति दूसरों के शरीर को अपने शरीर जैसा मानते हैं। वे दूसरों के कष्ट को अपना कष्ट समझकर उसे दूर करने का प्रयास करते हैं।

384. || सर्वत्र ज्ञातिं भ्रंशयति बालिशः ||
मूर्ख और नीच व्यक्ति किसी दूसरे को महत्व दिया जाना पसंद नहीं करते।

385. || मांसभक्षणं सर्वेषाम् अनिच्छितम् ||
मांस भक्षण उचित आहार नहीं है, क्योंकि मानव शरीर की रचना हिंसक पशुओं से भिन्न है।

386. ॥ न संसारे भयम् ज्ञानवताम् ॥
ज्ञानियों को संसार में किसी प्रकार का भय नहीं होता।

387. ॥ विज्ञानदीपेन संसारभयं निवर्तते ॥
ब्रह्मज्ञान रूपी विज्ञान के दीपक से संसार का भय दूर हो जाता है। ज्ञान के प्रकाश से ज्ञानी पुरुष पापरूपी अज्ञान में नहीं फँसते।

388. ॥ सर्वमशाश्वतं भवति ॥
इस संसार के सभी भौतिक सुख और उन्हें प्राप्त करने के साधन अशाश्वत हैं। केवल आत्मा ही अमर होती है।

389. ॥ स्वदेहे देहिनां स्नेहो मूढत्वं जनयति ॥
देहधारी जीवों को अपने पंचभूतों से बने शरीर के प्रति अत्यधिक आसक्ति होती है, जो अज्ञान का प्रतीक है। अजर और अमर तो केवल आत्मा ही है।

390. ॥ कृमिकृन्मूत्रभाजनं शरीरं पुण्यपापजन्महेतुः ॥
कीट-मल-मूत्र का पात्र यह मानव शरीर, पुण्य और पाप दोनों का ही जन्मस्थल है। इसलिए मनुष्य का कर्तव्य है कि वह पुण्य कार्यों से शरीर को उज्ज्वल बनाए।

391. ॥ जन्ममरणयोः दुःखम् ॥
जन्म-मरण का यह चक्र दुःख का कारण है। मनुष्य अच्छे कार्यों के द्वारा जन्म-मरण से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

392. ॥ क्षमायुक्तस्य तपो वर्धते ॥
क्षमाशील व्यक्ति का तप निरंतर बढ़ता रहता है। जिसकी इन्द्रियाँ वश में हैं, वही क्षमावान हो सकता है।

393. ॥ तपसा स्वर्गमाप्नोति ॥
तपस्या के माध्यम से लोक और परलोक दोनों में सुख की प्राप्ति होती है।

394. ॥ ततः सर्वेषां कार्यसिद्धिर्भवति ॥
जो पुरुष तप द्वारा अपने स्वार्थ को त्यागकर समाज कल्याण के कार्यों में संलग्न होता है, उसके सभी कार्य सिद्ध हो जाते हैं।

395. || राज्ञो भेतव्यं सर्वकाले ||
मनुष्य को राज्य के नियमों का निष्ठापूर्वक पालन करना चाहिए, जिससे वह राजा या प्रशासन के कोप का पात्र न बने।

396. || न राजा पृथा देवतया ||
राजा के पास व्यापक शक्ति और अधिकार होने के कारण उसे राष्ट्र की देवता तुल्य संज्ञा दी जाती है। राष्ट्र में राज्य के नियम धर्म के पालन हेतु हीं होते हैं।

397. || सद्दृष्टिप्रसृतो राजवह्निः ||
राजा का क्रोध द्रष्टिगत होने पर राज्य के सुदूर कोने में भी पहुँचकर दण्ड देने में समर्थ होता है।

398. || रिक्तहस्तो न राजानं सम्प्रणमेत् – गुरुं च देवं च ||
मनुष्य को राजा, गुरु और देवता की पूजा या प्रणाम करते समय खाली हाथ नहीं जाना चाहिए।

399. || रिक्तहस्तो न राजानं भाषेत ||
राजा, देवता वा गुरु के पास खाली हाथ नहीं जाना चाहिए। राजा सुरक्षा, न्याय और शासन देता है; गुरु ज्ञान प्रदान करता है और देवता धर्म में श्रद्धा उत्पन्न करते हैं। अतः इनके पास श्रद्धा और भक्ति सूचक उपहार लेकर ही जाए।

400. || गन्तव्यं च सदा राजकुलम् ||
राजदरबार में नियमित रूप से उपस्थित होना चाहिए। इससे राज्य के कार्यों और जनहित से संबंधित गतिविधियों की जानकारी बनी रहती है।

401. || राजपुरुषैः सम्बन्धं कुर्यात् ||
राजपुरुषों से सम्बन्ध बनाए रखने चाहिए। इससे व्यक्ति के अनेक कार्य सहजता से सम्पन्न हो सकते हैं।

402. || कुटुम्बिनो भजेतव्याः ||
राजा के परिवारजनों या संबंधियों का सत्कार करना चाहिए। ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहिए जिससे वे रुष्ट हो जाएं या द्वेष रखने लगें।

403. || ग्रामार्थे कुटुम्बं त्यज्यते ||
ग्राम के हित के लिए अपने परिवार के हित का भी त्याग कर देना चाहिए।

404. ॥ न स्पृशेत् राजधनं चेष्टया ॥
राजा के धन या राज्य-सम्पत्ति की ओर लोभपूर्वक नहीं देखना चाहिए। जो कर या दायित्व निर्धारित हों, उनका समय पर निर्वाह करना चाहिए।

405. ॥ राजदासी न सेवितव्या ॥
राजा की विशिष्ट दासियों (या सेविकाओं) से व्यक्तिगत सम्बन्ध नहीं बनाना चाहिए; इससे राजा के अप्रसन्न होने की संभावना रहती है।

406. ॥ जनपदार्थं ग्रामं त्यजेत् ॥
जिले या जनपद के हित के लिए ग्राम के हित का त्याग करना चाहिए। अधिक लोगों के कल्याण के लिए व्यक्ति को अपने निजी स्वार्थ का परित्याग करना चाहिए।

407. ॥ पुत्रार्थं स्त्री गृह्यते ॥
पुत्र की प्राप्ति के लिए स्त्री का वरण किया जाता है -केवल इन्द्रिय तृप्ति के लिए नहीं।

408. ॥ या प्रसूते सा भार्या ॥
जो स्त्री उत्तम संतान को जन्म देती है, वही सच्ची पत्नी कहलाती है।

409. ॥ अतिलाभः पुत्रलाभः ॥
गुणवान पुत्र की प्राप्ति पिता और परिवार के लिए अत्यधिक लाभ और गौरव का कारण है।

410. ॥ नापत्यस्य स्वर्गः ॥
सुपुत्र के बिना स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होती।

411. ॥ प्रायेण हि पुत्राः पितृनुवर्तन्ते ॥
अधिकांश पुत्र अपने पिता के जीवन के अनुसार ही आचरण करते हैं। इसलिए पिता को अपने पुत्र के समक्ष आदर्श प्रस्तुत करना चाहिए।

412. ॥ पुत्रा विद्यानां पारं गमयितव्याः ॥
पिता का कर्तव्य है कि वह अपने पुत्र को शिक्षित, विद्वान और गुणवान बनाए। यदि पिता ऐसा नहीं करता तो वह संतान का शत्रु है।

413. ॥ पुत्रे गुणवति कुटुम्बिनः स्वर्गः ॥
गुणवान और सदाचारी पुत्र के कारण परिवार सुख, शांति और यश को प्राप्त करता है। यह पुत्र के निर्माण में पिता की भूमिका पर भी निर्भर करता है।

414. ॥ कुलं प्रख्यापयति पुत्रः ॥
सुपुत्र अपने गुणों से कुल का यश बढ़ाता है। इसीलिए पुत्र को "कुलदीपक" कहा गया है।

415. ॥ येन तत्कुलं प्रख्यातं सः पुरुषः ॥
जिस पुरुष के द्वारा उसका कुल प्रसिद्ध हो, वही सच्चा पुरुष कहलाता है।

416. ॥ गतिः पितौ दशति सुपुत्रः ॥
सुपुत्र के रहते माता-पिता दुर्गति को प्राप्त नहीं होते। वृद्धावस्था में वह उनकी सेवा करता है।

417. ॥ स्त्रीसंगात् ब्रह्मचर्यं नश्यति ॥
गुरुकुल में अध्ययनरत छात्रों के लिए स्त्री-संपर्क ब्रह्मचर्य का विनाशक होता है।

418. ॥ स्वदासीपरिग्रहः हि स्वदासभावः ॥
जो व्यक्ति अपनी ही दासियों को भोग की वस्तु बना लेता है, वह स्वयं भी उनका दास बन जाता है।

419. ॥ उपस्मृतिविनाशः पथ्यवाक्यं न शृणोति ॥
जिसका विवेक नष्ट हो जाता है, वह अपने हित की बात भी नहीं सुनता। "विनाशकाले विपरीत बुद्धि" ।

420. ॥ नास्मस्ति दुःखानां सुखतः अभावः ॥
प्रत्येक देहधारी व्यक्ति के जीवन में सुख और दुःख साथ-साथ जुड़े रहते हैं। उसी प्रकार सफलता और असफलता भी।

421. ॥ यथार्द्रिर्वत्साः सुखदुःखयोः अनुगन्तास्मिन्ति ॥
जैसे बछड़ा अपनी माता तक पहुँच जाता है, वैसे ही मनुष्य द्वारा किए गए कर्मों के फल—सुख और दुःख—उसका पीछा करते हैं।

422. || शतपात्राप्र्युपकारं शैलपात्रं मन्यते साधुः ||
सज्जन पुरुष तिनके जैसे छोटे से उपकार को भी पर्वत के समान बड़ा मानते हैं।

423. || स्वल्पाप्र्युपकारकृते प्रत्युपकारं कर्तुं सदायो न स्वपिति ||
सज्जन पुरुष छोटे से उपकार को भी बहुत बड़ा मानते हैं और उसका प्रत्युपकार करने के लिए सदा तैयार रहते हैं।

424. || उपकारो दुष्टानां न कर्तव्यः ||
दुष्ट पुरुषों पर उपकार नहीं करना चाहिए।

425. || प्रत्युपकाराभियानात् शत्रुर्भवति ||
उपकार का बदला चुकाने की भावना से भी दुष्ट पुरुष शत्रु बन जाते हैं।

426. || न कदापि देवतानां अवमानः कर्तव्यः ||
पूजा के योग्य देवताओं, प्राण प्रतिष्ठित मूर्तियों, पूजास्थलों और श्रेष्ठ आचरण वाले व्यक्तियों का कभी भी अपमान नहीं करना चाहिए।

427. || न चक्षुषः समं ज्योतिषि अस्ति ||
नेत्र के समान कोई और प्रकाश नहीं है। मनुष्य-जीवन निरर्थक हो जाता है।

428. || चक्षुः शरीरिणां नेता ||
जिस मनुष्य के ज्ञान-नेत्र खुले हैं, वही देहधारियों का पथ-प्रदर्शक होता है।

429. || अपचक्षुषः कः शरीरिणां ||
जिसके पास नेत्र नहीं होते, उसके जीवन में अनेक प्रकार के कष्ट होते हैं—उनकी कोई सीमा नहीं होती।

430. || न निमज्जेत् जले प्रवेशे ||
नदी, सरोवर आदि जल में पूरी तरह डूबकर नहीं प्रवेश करना चाहिए। जल में कुछ जीव शरीर से चिपककर रक्त चूसते हैं।

431. || न आप्सु मूत्रं कुर्यात् ||
जल में मूत्र-त्याग नहीं करना चाहिए।
जल अशुद्ध हो जाता है और पीने, स्नान आदि के योग्य नहीं रहता।

432. || यथा शरीरं तथा ज्ञानम् ||
जैसा शरीर होता है, वैसा ही ज्ञान उसमें रहता है।
जैसा खाओ अन्न, वैसा बने मन और वैसा ही तन।

433. || यथा बुद्धिः तथा विभवः ||
जैसी बुद्धि होती है (सात्त्विक, राजसिक या तामसिक), वैसा ही वैभव होता है।

434. || अनाविष्टं न दह्येत् ||
अधजली अग्नि में फिर से अग्नि नहीं डालनी चाहिए। इसी प्रकार क्रोध के बदले क्रोध नहीं करना चाहिए।

435. || परदारान् न गच्छेत् ||
पराई स्त्री के साथ संबंध नहीं बनाना चाहिए। दुष्ट प्रवृत्तियों पर कठोर संयम रखने से ही मानव और सामाजिक जीवन की शांति संभव है।

436. || तपस्विनः पूजनीयाः ||
तपस्वी वे लोग होते हैं जो इंद्रियों को वश में रखने का प्रयत्न करते हैं। वे समाज के लिए मार्गदर्शक का कार्य करते हैं। उनका आदर-सत्कार करना चाहिए, उनका अपमान नहीं करना चाहिए।

437. || अन्नदानं भ्रूणहत्यायाः अपि प्रायश्चित्तम् ||
अन्नदान से भ्रूण (गर्भस्थ शिशु) हत्या जैसे पाप का भी प्रायश्चित्त संभव है।

438. || न वेदबाह्यतः धर्मः ||
वेदस्वीकृत धर्म ही वास्तविक धर्म है। वेद ज्ञान का भंडार है। वेद के विरुद्ध चलने से धर्म का पालन नहीं हो सकता।

439. || न कदाचित् धर्मं निषेधयेत् ||
धर्म का विरोध कभी नहीं करना चाहिए। जो समाज में अधर्म फैलाते हैं, उनके संपर्क से बचना चाहिए। मनुष्य को धर्मानुष्ठान अवश्य करना चाहिए।

440. || स्वगाथा नियता सुश्रुतिः ||
जो व्यक्ति प्रेमपूर्ण मधुर वाणी बोलते हैं, वे दूसरों को भी अपना बना लेते हैं। वे इस संसार में निष्कलंक रहकर स्वर्ग के सुखों का अनुभव करते हैं।

441. || नास्ति सत्यात् परं तपः ||
सत्य का आचरण ही इस संसार में सबसे श्रेष्ठ तपस्या है। संकट आने पर भी सत्यनिष्ठ व्यक्ति विचलित नहीं होता और सत्य का परित्याग नहीं करता।

442. || सत्यं स्वर्गस्य साधनम् ||
सत्यनिष्ठ मनुष्य अपनी स्वार्थयुक्त प्रवृत्तियों पर नियंत्रण करके जीवन का मार्ग सत्य के बल पर बनाता है, उसकी पूजा स्वर्ग के देवता के समान की जाती है।

443. || अतीवः शूरः दानी ||
दानवीर ही सबसे बड़ा वीर होता है।

444. || सत्येन धार्यते लोकः ||
सत्य के माध्यम से ही समाज में व्यवस्था, सार्वजनिक कल्याण और आत्म-कल्याण संभव होता है।

445. || सत्यात् देवो वृष्टिं ववर्ष ||
देवताओं की कृपा रूपी वर्षा भी सत्य के कारण ही होती है।

446. || नानृतात् पातकं परम् ||
असत्य आचरण करने से मनुष्य को अनेक संकटों का सामना करना पड़ता है। झूठ बोलकर मनुष्य स्वयं को भी धोखा देता है।

447. || खलत्वं न उपेयात् ||
मनुष्य का कर्तव्य है कि वह दुष्टता और नीचता (दूसरों की निंदा करना, झगड़ा करना, असत्याचरण करना आदि नीच कर्म हैं) का कभी भी आश्रय न ले। सदैव दुष्ट व्यक्ति और पापकर्मों से दूर रहे।

448. || नास्ति खलस्य मित्रम् ||
दुष्ट मनुष्य का कोई मित्र नहीं होता। जो व्यक्ति सज्जनों के साथ दुर्व्यवहार करता है, समय आने पर उसके अपने संबंधी भी उसे छोड़ देते हैं।

449. || लोकयात्रा दरिद्रं बाधते ||
दरिद्र और निर्धन व्यक्ति के लिए अपने परिवार के आश्रितों के अतिरिक्त स्वयं का जीवन-निर्वाह भी कठिन होता है। दरिद्रता जीवन की कठिनाई है। निर्धनता के कारण उसके अपने संबंधी भी उसे त्याग देते हैं।

450. || न गुरोर्निन्दा कार्या ||
गुरु की निन्दा कभी नहीं करनी चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि वह अपने गुरु की आलोचना न करे, अपितु सदा उनका सम्मान ही करे।

451. || गुरुदेवब्राह्मणेषु भक्तिः भूषणम् ||
जो व्यक्ति गुरु, देवता, ब्राह्मण और सज्जनों के प्रति समान श्रद्धा और भक्ति रखता है, वह गुण उसके लिए एक आभूषण के समान होता है। ऐसे व्यक्ति की सर्वत्र पूजा होती है।

452. || सर्वस्य भूषणं विनयः ||
नम्रता सभी के लिए एक आभूषण है। जिस व्यक्ति की सत्य में निष्ठा होती है, वही विनम्र भी हो सकता है। विनम्रता मनुष्य को सबका प्रिय बना देती है।

453. || अकुलीनोऽपि विनीतः कुलीनादधिको भवेत् ||
जो व्यक्ति कुलीन न होकर भी विनीत (नम्र) होता है, वह अहंकारी कुलीन व्यक्ति से श्रेष्ठ होता है।

454. || आचारादायुर्वृद्धिः कीर्तिश्च ||
सदाचारी व्यक्ति मन, वचन और कर्म से अपनी इन्द्रियों को वश में रखता है, जिसके कारण उसकी आयु, कीर्ति और सम्मान बढ़ते हैं।

455. || बहुजनविरुद्धं एकं नानुवर्तेत ||
बहुसंख्यक लोगों के विरोध में खड़े किसी व्यक्ति का अनुकरण नहीं करना चाहिए, यदि वह अनुकरण करने योग्य न हो। सदैव सत्य का ही अनुसरण करना चाहिए।

456. || न दुष्टेषु भागधेयम् कर्तव्यम् ||
दुष्ट व्यक्तियों के साथ कभी भी अपने भाग्य को नहीं जोड़ना चाहिए। उनके साथ कार्य करने से मनुष्य को दुःख भोगना पड़ता है।

457. || प्रियं चाप्यहितं न वक्तव्यम् ||
मधुर और प्रिय लगनेवाली बात भी यदि अहितकारी हो, तो वह नहीं बोलनी चाहिए।

458. || न कृतार्थेषु नीचेषु सम्बन्धः ||
अपने कार्य में सफलता प्राप्त हो जाने पर भी नीच व्यक्तियों से संबंध नहीं रखना चाहिए।

459. || ऋणशत्रुरोगाणां विशेषः कर्तव्यः ||
ऋण, शत्रु और रोग – इन तीनों का नाश (समाप्ति) अवश्य करना चाहिए।

460. || भूत्यनुवर्तनं पुरुषस्य रसायनम् ||
कल्याण के मार्ग पर चलना मनुष्य के लिए उत्तम औषधि (रसायन) के समान होता है।

461. || नास्त्यर्थिनो गौरवम् ||
जो सदा याचना करता है, उसे समाज में कोई गौरव (सम्मान) प्राप्त नहीं होता।

462. || नार्थिनां अवज्ञा कार्याः ||
याचक की विवशता को समझते हुए उसका अपमान नहीं करना चाहिए।

463. || सदा कठिनं कार्यं कृत्वा कर्ता अपमान्यते नीचैः ||
नीच व्यक्ति कठिन और असमर्थ कार्य करवाने के बाद भी, कार्यकर्ता का अपमान करते हैं और उसे यश नहीं देते।

464. || नाकृतज्ञस्य निष्ठा वर्तते ||
कृतघ्न मनुष्य की कभी उन्नति नहीं होती; उसे अंततः नरक के अतिरिक्त कोई गति नहीं मिलती।

465. || जिह्वायाः व्रद्धिः च विनाशः च ||
मनुष्य की उन्नति और अवनति – दोनों उसकी वाणी पर निर्भर करती हैं।

466. || शब्दार्थमृतयो वाक्यं सजीवनम् || प्रियवचनं न शत्रुः ||
मनुष्य की वाणी यदि मधुर और अमृत समान हो तो वह जीवनदायिनी होती है। जो प्रिय वचन बोलता है, उसका कोई शत्रु नहीं होता।

467. || अनृतं च दुवचनं न चिरं तिष्ठति ||
असत्य और कटु वचन अधिक समय तक टिकते नहीं।

468. || निःसन्तं दुवचनं कुलनाशकं ||
कटु वाणी से उत्पन्न द्वेष जीवन भर बना रहता है। कठोर बोलने वाला व्यक्ति कुल के पतन का कारण बनता है।

469. || स्तुत्या अपि देवता स्तुष्यन्ति ||
स्तुति करने से देवता भी प्रसन्न हो जाते हैं। जब अदृश्य देवता मधुर वचनों से प्रसन्न हो सकते हैं, तो प्रतिदिन संपर्क में आने वाले लोग मधुर वाणी से क्यों न प्रसन्न होंगे?

470. || श्रुतिसुखात् कोकिलाया प्रियता ||
रूप कुरूप होने पर भी कोयल की मधुर वाणी सभी को अच्छी लगती है। परंतु काले कौवे की कठोर वाणी कोई पसंद नहीं करता।

471. || स्वधर्महेतु सत्पुरुषः ||
जो अपने धर्म में स्थित रहता है, वही सत्पुरुष कहलाता है। "स्वधर्मे निधनं श्रेयः, परधर्मो भयावहः" (गीता)।

472. || स्त्रीणां भूषणं सौभाग्यं लज्जा च ||
स्त्रियों का आभूषण उनका सौभाग्य (पति के प्रति समर्पण और पतिव्रता होना) तथा उनकी लज्जा होती है। यही उनके समाज में सम्मान का कारण बनता है। इससे श्रेष्ठ स्त्री के लिए कोई और आभूषण या श्रृंगार नहीं।

473. || शत्रोः अपि न पत्यं जीविकायाः ||
शत्रु की भी आजीविका नष्ट नहीं करनी चाहिए। (जिससे कोई व्यक्ति अपना तथा अपने परिवार का पालन करता है)। किसी को जीविका उपलब्ध कराना बहुत ही महत्वपूर्ण और पुण्य का कार्य माना गया है।

474. || अप्रयत्नात् एकं क्षेत्रं ||
जहाँ बिना प्रयत्न के जल उपलब्ध हो, वही कृषि के योग्य भूमि मानी जाती है।

475. || एरण्डवलम्ब्य कुञ्जरं न कोपयेत् ||
एरण्ड (कमज़ोर) वृक्ष का सहारा लेकर हाथी (बलवान) को क्रोधित नहीं होना चाहिए। (कमज़ोर साधनों के साथ शक्तिशाली से भिड़ना मूर्खता है)।

476. || अति प्रवृद्धा शाल्मली वानरस्तम्भो न भवति ||
बहुत पुराना होने पर भी विशाल शाल्मली का वृक्ष हाथी को नहीं बाँध सकता। निर्बल मन वाले लोग चाहे कितने भी समृद्ध और हृष्ट-पुष्ट क्यों न हों, बलवान से टक्कर नहीं ले सकते। शरीर की विशालता विजय का साधन नहीं है।

477. || अति दीप्त्या खद्योतः न पावकः ||
जुगनू की चमक से न प्रकाश होता है और न ही आग का कार्य किया जा सकता है। महत्वपूर्ण कार्य करने के लिए मन का दृढ़ होना आवश्यक है। निर्बल व्यक्ति कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं कर सकते।

478. || अति दीर्घः कर्णिकारः न मुषली ||
बहुत बड़ा कनेर का पेड़ (जो अंदर से खोखला है) की लकड़ी से मूसल नहीं बनाया जा सकता। चाहे कोई छोटा हो या बड़ा – यदि वह खोखला (अथवा निर्बल) है, तो कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं कर सकता।

479. || न प्रवृद्धत्वं गुणहेतुः ||
सिर्फ समृद्धि या वृद्धावस्था गुणवान होने का कारण नहीं होती। कोई व्यक्ति गुणी है या नहीं, यह उसके आचरण और व्यवहार से जाना जाता है।

480. || सुजीर्णोऽपि चूण्दो न शस्त्रकार्ये युज्यते ||
बहुत पुराना नीम का वृक्ष चाकू नहीं बन सकता। इसी प्रकार दुर्जन प्रकृति के लोग महत्वपूर्ण कार्यों में उपयोगी नहीं होते।

481. || यथा बीजं तथा निष्पत्तिः ||
जैसा बीज होता है, वैसा ही फल उत्पन्न होता है। संतान भी वैसी ही होती है जैसी उसके माता-पिता की प्रकृति और विचार होते हैं।

482. || स्वयमेव दुःखमर्हति कृत्यम् ||
मनुष्य को अपने कर्मों के अनुसार ही दुःख-सुख प्राप्त होते हैं। वह जैसा कर्म करता है, वैसा ही फल उसे मिलता है।

483. || यथाश्रुतं तथा बुद्धिः ||
मनुष्य की शिक्षा जैसी होती है, उसकी बुद्धि का विकास भी वैसा ही होता है। इसलिए सदैव प्रयास करना चाहिए कि संतान को उत्तम शिक्षा मिले, जिससे उनमें श्रेष्ठ बुद्धि और विवेक विकसित हो।

484. || यथाकुलं तथा चारितम् ||
जैसा कुल होता है, वैसा ही आचरण होता है। जिस वंश के लोग धर्मपरायण और गुणी होते हैं, उस कुल के लोग भी उदार और श्रेष्ठ व्यवहार वाले होते हैं। ऐसे कुल में जन्मे बच्चे भी उदार और सद्गुणी होते हैं।

485. || संस्कृतोऽपि चूर्ण्दो न सहकारो भवति ||
नीम को चाहे जितना भी दूध-गुड़ से सींचा जाए, वह आम नहीं बन सकता। इसी प्रकार नीच मनुष्य को चाहे जितना भी उपदेश दिया जाए, उसका स्वभाव बदलना अत्यंत कठिन होता है।

486. || न त्याज्यं सुखं प्राप्तम् ||
जो हाथ में है -प्राप्त सुख को नहीं छोड़ना चाहिए। अनुकूल वर्तमान को त्यागकर अनिश्चित भविष्य की आकांक्षा करना बुद्धिमानी नहीं। कहा गया है- "यो ध्रुवं परित्यज्य अध्रुवं परिधावति। ध्रुवं तस्य नश्यति अध्रुवं नष्टमेव तत्।"

487. || न रात्रिचारणं कुर्यात् ||
रात्रि में व्यर्थ नहीं घूमना चाहिए। विशेषकर स्त्रियों को इसके प्रति अधिक सावधान रहना चाहिए।

488. || न च अर्धरात्रं स्वपेयात् ||
आधी रात तक जागते नहीं रहना चाहिए। चिकित्सा-विज्ञान के अनुसार रात में समय पर सो जाना शरीर और मन दोनों के स्वास्थ्य के लिए लाभदायक होता है। केवल प्रभु प्रार्थना में लीन होकर योगीजन ही रात्रि को जागरण करते हैं।

489. || तज्ज्ञैः पण्डितैः पृच्छेत् ||
मनुष्य को यह जानने के लिए कि किस समय कौन-सा कार्य करना चाहिए, विद्वानों और कुलीन वृद्धों से परामर्श लेना चाहिए।

490. || शास्त्राभावे षष्टाचारानुगेनियेत् ||
यदि मनुष्य को शास्त्रों का ज्ञान न हो, तो उसे श्रेष्ठ पुरुषों के आचरण का अनुकरण करना चाहिए।

491. || शास्त्रप्रधानो लोकव्यवहारः ||
लोक-व्यवहार शास्त्र के अनुकूल होना चाहिए। मनुष्यों को अपने आचरण और व्यवहार के लिए शास्त्रों से ही प्रेरणा लेनी चाहिए।

492. || नाचरितं शास्त्रं गरियः ||
कोई भी शास्त्र सदाचार से बढ़कर नहीं होता। सभी शास्त्रों में सदाचार की ही रक्षा की गई है। अच्छा आचरण शास्त्र से भी अधिक महत्वपूर्ण होता है।

493. || परगृहं कारणतो न प्रविशेत् ||
किसी उचित कारण के बिना दूसरों के घर में प्रवेश नहीं करना चाहिए। ऐसा करने से व्यक्ति का अपमान हो सकता है।

494. || ज्ञात्वापि दोषं वेत्ति कोऽपि लोकः ||
मनुष्य कभी-कभी दोष जानने के बाद भी अपनी वासनाओं के वश होकर उसी कार्य की ओर आकर्षित होता है।

495. || दृष्टिप्रसादाच्च पश्यति राजा ||
राजा (या शासक) अपने गुप्तचरों के द्वारा दूर की बातों को भी जान लेता है। गुप्तचर राजा की आंखें होते हैं।

496. || गतानुगतिको लोकः ||
साधारण लोग परंपरा का अनुकरण करते हैं। केवल विवेकशील ,बुद्धिमान लोग ही हितकर मार्ग को अपनाते हैं और अहितकर मार्ग का त्याग करते हैं।

497. || यः नुजीवेत् नापवादेत् ||
जिस व्यक्ति के कारण जीविका चलती हो, उसकी निंदा नहीं करनी चाहिए। ऐसा करने से जीविका संकट में पड़ सकती है।

498. || तपःसारं इन्द्रियनिग्रहः ||
इंद्रियों को वश में रखना ही तप का सार है। विषयों से दूर वन में जाकर भी यदि इंद्रियाँ वश में न हों, तो वह तप नहीं कहा जा सकता।

499. || अशुभेषु न स्त्रीषु प्रसक्ताः ||
जो लोग अशुभ कार्यों से दूर रहते हैं और समाजहित में ही अपना हित समझते हैं, वे स्त्रियों के अनावश्यक संपर्क में नहीं रहते।

500. || दुर्लभः स्त्रीबन्धनान्मोक्षः ||
स्त्री-संबंध रूपी बंधन से मुक्त होना अत्यंत कठिन कार्य है। केवल असाधारण आत्मबल वाला व्यक्ति ही इससे बच सकता है।

501. || स्त्रीणां सर्वाशुभानां क्षेत्रम् ||
स्त्री सभी प्रकार के संकटों की मूल भूमि मानी गई है। अतः राष्ट्र को स्त्री-संबंधी कर्तव्यों के प्रति सजग रहना चाहिए। स्त्री को केवल भोग-विलास की वस्तु मानने से समाज को घातक परिणाम भोगने पड़ते हैं।

502. || यज्ञफलज्ञः समस्तवेदवित् ||
जो तीनों वेद (ऋग्वेद, यजुर्वेद, और सामवेद) को जानता है, वही यज्ञ के प्रयोजन परिणाम और वास्तविक फल का पूर्ण ज्ञान रखता है।

503. || स्वर्गस्थानं न शाश्वतम् ||
स्वर्ग की प्राप्ति स्थायी नहीं होती। जब तक पुण्य का फल बना रहता है, तब तक ही मनुष्य स्वर्गसुख का अनुभव करता है।

504. || यावत्पुण्यफलं तावदेव स्वर्गफलम् ||
जब तक पुण्य का प्रभाव बना रहता है, तब तक ही स्वर्ग का सुख प्राप्त होता है। सुख और दुःख मनुष्य को उसके कर्मों के अनुसार ही प्राप्त होते हैं।

505. || न च स्वर्गपतनात्परं दुःखम् ||
स्वर्ग से पतन होने पर जो दुःख होता है, वह अत्यंत तीव्र होता है। लेकिन यह सब मनुष्य के अपने कर्मों के कारण ही होता है।

506. || देही देहं त्यक्त्वा इन्द्रं न वाञ्छति ||
मनुष्य को अपने शरीर से इतना मोह होता है कि वह इस मोहवश इंद्रपद की भी इच्छा नहीं करता यदि इसके लिए शरीर छोड़ना पड़े।

507. || दुःखनामौषधं निर्वाणम् ||
सभी दुःखों की औषधि मोक्ष (निर्वाण) है। जब मनुष्य मोक्ष को प्राप्त कर लेता है, तब उसके सारे दुःख स्वयं समाप्त हो जाते हैं।

508. || अनायसबन्धात् मित्रं शत्रुत्वम् ||
दुष्ट व्यक्ति से संबंध रखने की अपेक्षा सज्जन व्यक्ति से शत्रुता रखना अच्छा है। विवेकी और सदाचारी व्यक्ति का विरोध भी कल्याणकारी होता है।

509. || न पुत्रसंस्पर्शात् परं सुखम् ||
पुत्र का स्नेह सबसे बड़ा सुख माना गया है। संसार में पुत्र-संबंधी सुखों से बढ़कर और कोई सुख नहीं है।

510. || विवादे धर्मानुगतेन वर्तेत ||
विवाद की स्थिति में धर्म के अनुसार आचरण करना चाहिए। इससे पाप से बचा जा सकता है।

511. || निशान्ते कार्यं चिन्तयेत् ||
मनुष्य को प्रतिदिन प्रातःकाल अपने दिनचर्या और कार्यों के बारे में विचार करना चाहिए, जिससे दिन व्यवस्थित और सफलतापूर्वक व्यतीत हो।

512. || जीवार्थिनी न काम्यन्ति गवां धेनवः ||
जिसे केवल दूध चाहिए, उसे सारी गायें पालने की आवश्यकता नहीं होती। अर्थात्, जो लोग विवेकपूर्ण होते हैं, वे अनावश्यक कार्यों से बचते हैं।

513. || दानार्थः ||
दान अर्थात् योग्य पात्र की सहायता करना मनुष्य का स्वहितकारी कर्तव्य है। अपनी आय का कुछ अंश अवश्य ही दान में देना चाहिए।

514. || न दानस्मृतेः वर्ज्यम् ||
दान जैसा कोई और श्रेष्ठ कार्य नहीं है। सदाचारी धनी लोग अपने धन का सदुपयोग समाज के कल्याण में करते हैं। जिन लोगों को उनके दान से लाभ होता है, वे सदा उस दानी के गुणगान करते हैं।

515. || निम्बफलं कः कैवर्तः चित्यते ||
नीम का फल कौन खाता है? (कोई नहीं) उसी प्रकार, अनैतिक उपायों से इकट्ठा किया गया धन चरित्रहीन लोगों के ही कार्यों में आता है।

516. || नाम्भोधेः तृष्णा आपोह्यते ||
समुद्र के खारे पानी से प्यास नहीं बुझती। उसी प्रकार पाप की कमाई से प्राप्त धन किसी को संतुष्ट नहीं कर सकता।

517. || बालुका अपि स्वगुणं न त्यजति ||
जैसे बालू (रेत) अपने रूखे और कठोर स्वभाव को नहीं छोड़ती, वैसे ही दुष्ट मनुष्य भी अपने स्वभाववश नीच उपायों से ही धन का संग्रह करता है और उसका उपयोग समाज-कल्याण में नहीं करता।

518. || परार्थेषु स्पृहां न कुर्यात् ||
पराई वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा नहीं करनी चाहिए। साधु-संतों का कहना है कि दूसरों के धन को मिट्टी के समान समझना चाहिए।

519. || असत्संगसमृद्धिः सतामपि दुर्भुज्या ||
दुष्टों की समृद्धि का उपयोग भी दुष्ट ही करते हैं। जो दुष्ट लोग धन, दौलत आदि इकट्ठा करते हैं, उनका उपयोग वे बुरे कार्यों के लिए ही करते हैं।

520. || सन्तः असत्सु न रमन्ते ||
सज्जन लोग दुष्टों में रहकर आनंद अनुभव नहीं करते। मनुष्य जैसे लोगों में रहता है, वैसा ही उसका स्वभाव बन जाता है। विपरीत स्वभाव के लोग आपस में प्रेम से मिलकर कोई समाज-कल्याण का कार्य नही कर सकते हैं ।

521. || न हंसा: प्रेतवने रमन्ते ||
हंस (गुणी व्यक्ति) श्मशान (बुरी संगति) में रहना पसंद नहीं करते। उसी प्रकार योग्य व्यक्ति एकांत में जीवन व्यतीत कर लेता है, परंतु अयोग्य व्यक्ति के साथ रहना स्वीकार नहीं करता।

522. || अर्थार्थं प्रवर्तते लोकः ||
सारा संसार धन के पीछे दौड़ता है।

523. || आशया बध्यते लोकः ||
सभी सांसारिक प्राणी धन की आशा के बंधन में बंधे हुए हैं। जो व्यक्ति केवल धन की चाह में अपने कर्तव्य की उपेक्षा करता है, वह श्रीहीन हो जाता है।

524. || आशापाशेन धैर्यम् हरति ||
आशावान मनुष्य धैर्यशील नहीं रहता, वह अपना धैर्य खो बैठता है। उसमें स्थिर बुद्धि नहीं रहती। विवेकी मनुष्य को केवल धन पर निर्भर न रहकर कर्तव्य का पालन करना चाहिए, इसी से धन की प्राप्ति होती है।

525. || न च आशापाशैः श्रीः सन्निवर्तते ||
केवल आशा के बंधन में रहने वाला व्यक्ति श्रीहीन हो जाता है। जो कर्तव्य की उपेक्षा करता है और सिर्फ धन की आशा में लगा रहता है, उसे निराशा के अलावा कुछ नहीं मिलता।

526. || दैन्यात् मरणं श्रेष्ठम् ||
दरिद्र होकर जीने की अपेक्षा मर जाना अच्छा है। जो मनुष्य स्वयं को दीन, निकम्मा या असहाय समझता है, वह मृतक के समान है।

527. || आशा लज्जां व्यपोहति ||
धन की आशा मनुष्य की लज्जा को नष्ट कर देती है। विषय-लोलुपता के कारण मनुष्य भ्रष्टाचार छोड़कर अनुचित कार्य करने लगता है।

528. || आत्मा न स्तोतव्या ||
अपने मुख से अपनी प्रशंसा नहीं करनी चाहिए। ऐसा आचरण करें कि अन्य लोग आपकी प्रशंसा करें। सज्जन व्यक्ति आत्मप्रशंसा से दूर रहते हैं।

529. || न दिवा स्वप्नः कुर्यात् ||
दिन में नहीं सोना चाहिए। दिन में सोने से कार्य में बाधा आती है और शरीर में अपच, वायु-विकार आदि उत्पन्न होते हैं।

530. || आयुः ह्रियेते दिवा निद्रया ||
सोते समय श्वासों की संख्या बढ़ जाती है। प्रत्येक मनुष्य की श्वासें निश्चित होती हैं, इसलिए दिन में सोना आयु-हानिकर होता है।

531. || न चासन्नर्षप पश्यत्यैश्वर्यांधः न श्रृणोत्यपि ||
ऐश्वर्य के मद में अंधा व्यक्ति अपने पास की वस्तु को भी नहीं देखता और हितकारी बातों को भी नहीं सुनता।

532. || स्त्रीणां न भर्तृभ्यः परमं दैवतम् ||
श्रेष्ठ स्त्रियों के लिए उनके पति से बढ़कर कोई देवता नहीं होता।

533. || तदनुवर्तनं स्त्रीणां भर्तृसुखं लोकोत्तरं च ||
पति की इच्छा के अनुसार चलने से स्त्री को इस लोक और परलोक दोनों का सुख प्राप्त होता है।

534. || अतिथिर्भ्यागतः पूज्यः स्यात् काले चाकाले च ||
गृहस्थ का कर्तव्य है कि वह आकस्मिक रूप से और पूर्व सूचना देकर आने वाले, दोनों प्रकार के अतिथियों का यथोचित सम्मान करे।

535. || नित्यं संव्यवहारभागी स्यात् ||
व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह अर्जित धन में से कुछ अंश उन जरूरतमंदों को दे जिन्हें उसकी आवश्यकता है; दान देने से धन घटता नहीं है।

536. || नास्मिन्नहविष्ये व्यर्थता ||
योग्य पात्रों को श्रद्धा से दिया गया दान कभी व्यर्थ नहीं जाता। समाज के योग्य व्यक्तियों की सहायता करना भी समाज सेवा ही है।

537. || शत्रुवत् प्रलप्यते लोभात् ||
लोभ के कारण विवेक भ्रष्ट हो जाता है और प्रियजन भी शत्रु की भाँति प्रतीत होते हैं।

538. || मृगतृष्णा जलवद्भासते ||
तृष्णा के कारण मृग बालू को जल समझ बैठता है। जो व्यक्ति इंद्रियों पर संयम नहीं रखता, वह लोभ में फँसकर ठगा जाता है।

539. || शत्रुनिपाति लोभात् ||
लोभ में फँसकर मनुष्य अपने लक्ष्य से विचलित हो जाता है और आत्मविनाश की ओर अग्रसर होता है।

540. || उपालम्भो नास्त्यप्रणयेषु ||
जहां प्रेम नहीं होता, वहां समझाने-बुझाने का कोई प्रभाव नहीं होता; वहाँ कठोर दंड ही एकमात्र उपाय होता है।

541. || दुर्बुद्धेः शास्त्रं मोहयति ||
जिनकी बुद्धि भ्रष्ट हो गई हो, वे श्रेष्ठ शास्त्रों को भी उल्टा समझकर गलत मार्ग पर चल पड़ते हैं।

542. || सत्सङ्गः स्वर्गवासः ||
सत्संग स्वर्ग में वास करने के समान होता है। संतों का संग संसार में भी कष्टों से मुक्ति दिलाने वाला होता है।

543. || आयत्तः स्वस्मिन्परं मन्यते ||
उदार स्वभाव वाले श्रेष्ठ व्यक्ति दूसरों को भी अपने समान समझते हैं और वैसा ही व्यवहार करते हैं जैसा स्वयं से अपेक्षा रखते हैं।

544. || रूपानुसारि गुणः ||
जैसे रूप से मनुष्य का बाह्य स्वरूप झलकता है, वैसे ही गुण भी उसकी वाणी और व्यवहार से प्रकट होते हैं।

545. || यत्र सुखेन वर्तते तदेव स्थानम् ||
जहाँ मनुष्य सुखपूर्वक रह सके, वही उसके लिए उत्तम स्थान है।

546. || विश्वासघाती न निष्कृत्यः ||
जो व्यक्ति विश्वासघात करता है, वह किसी भी प्रायश्चित से मुक्त नहीं हो सकता।

547. || दैवात्तु न शोच्यते ||
जो कार्य ईश्वर के अधीन हैं, उनके लिए चिंता करना व्यर्थ है। मनुष्य को प्रयास अवश्य करना चाहिए, परंतु परिणाम की चिंता नहीं करनी चाहिए।

548. || आश्रितदुःखात्मनो भवति साधुः ||
सज्जन व्यक्ति अपने आश्रितों के दुःख को देखकर व्यक्तिगत रूप से दुःखी होते हैं और उन्हें दूर करने का प्रयास करते हैं।

549. || हृदयस्थितदोषान्निगूह्य मधुरवक्ता नायथ्यं ||
जो व्यक्ति अपने मन के दोषों को छिपाकर मीठी बातें करता है, वह छलिया होता है और विश्वासघात करता है।

550. || बुद्धिहीनः पिशाचात् अन्यः ||
बुद्धिहीन मनुष्य पिशाच के समान घृणा के योग्य होता है। बुद्धिमान व्यक्ति अपने हित के लिए दुष्टों का त्याग कर देता है।

551. || असहायः पथि न गन्तव्यः ||
बिना सहायक के यात्रा नहीं करनी चाहिए। यात्रा करते समय आत्मरक्षा के साधन साथ ले जाना चाहिए।

552. || पुत्रो न स्तोतव्यः ||
जिस प्रकार स्वयं की प्रशंसा अनुचित है, उसी प्रकार पिता को अपने गुणी पुत्र की भी प्रशंसा नहीं करनी चाहिए।

553. || स्वामी स्तोतव्यः अनुजीविभिः ||
सेवकों को अपने स्वामी की प्रशंसा करनी चाहिए।

554. || स्वाम्यनुग्रही धर्मकृत्यं भृत्यानां ||
सेवकों का धर्म है कि वे अपने कर्तव्यों का पालन कर स्वामी की कृपा प्राप्त करें।

555. || धर्मकृत्येष्वपि स्वामिनं एव दर्शयेत् ||
राज्य के अधिकारी अपने द्वारा किए गए पुण्य कार्यों का श्रेय स्वयं न लेकर उसे राज्य या राजा के आदेश से हुआ बताएं।

556. || राजाज्ञां नातिलङ्घयेत् || यथा आज्ञिं तथा कुर्यात् ||
राजा की आज्ञा का कभी उल्लंघन नहीं करना चाहिए। स्वामी की जैसी आज्ञा हो, उसके अनुसार ही कार्य करना चाहिए।

557. || सर्वविशेषं वा कुर्यात् ||
राज्य के श्रेष्ठ कर्मचारियों का कर्तव्य है कि जनता के हित के कार्यों में देरी न करें। विशेष कर्तव्यों को बिना पूछे तुरंत कर लेना चाहिए।

558. || स्वामिनो भीरुः क्कोपयुज्यते ||
राज्य सेवा में डरपोक और अकर्मण्य लोगों का कोई उपयोग नहीं होता।

559. || नास्त्यनार्यस्य कृपा ||
दुष्ट व्यक्ति से किसी प्रकार की दया या कृपा की आशा नहीं रखनी चाहिए।

560. || नास्ति बुद्धिमतां शत्रुः ||
बुद्धिमान लोग यह बात समझते हैं कि मनुष्य अपना ही सबसे बड़ा शत्रु और अपना ही सबसे बड़ा मित्र होता है।

561. || आत्मदोषं न प्रकाशयेत् ||
हर मनुष्य में कुछ कमजोरियाँ होती हैं, परंतु उन कमजोरियों को शत्रु के सामने प्रकट नहीं होने देना चाहिए। उन्हें दूर करने का प्रयास करना चाहिए।

562. || शक्तौ क्षमा शोभनीयाः ||
क्षमा करना शक्तिशाली को ही शोभा देता है, निर्बल को नहीं। सामर्थ्य होने पर भी जो किसी पर दया करता है, उसकी ही प्रशंसा होती है।

563. || क्षमावान् एव सर्वं साधयति ||
क्षमाशील मनुष्य अपने सभी कार्य सफलतापूर्वक कर लेता है। उसमें इतनी शक्ति होती है कि वह अपमान करने वाले की अवहेलना कर सकता है।

564. || आपदर्थं धनं रक्षेत् ||
आपातकाल के लिए धन की रक्षा करनी चाहिए। किसी भी समय कोई कष्ट या आपत्ति आ सकती है; अधिकांश कष्टों का निवारण धन से ही होता है।

565. || साहसवतां प्रियं कर्तव्यं ||
साहसी पुरुषों को अपना कर्तव्य प्रिय होता है। साहसी पुरुष केवल अपने कर्तव्य की ओर ध्यान देते हैं।

566. || श्वः कार्यं अद्य कुर्यात् ||
जो कार्य कल करना है, उसे आज ही कर लेना चाहिए। अपने कर्तव्य को अगले क्षण के लिए भी न टालकर उसी समय करना चाहिए।

567. || अपराह्निकं पूर्वाह्न एव कर्तव्यम् ||
दोपहर के कार्यों को भी दिन के प्रथम भाग में ही कर लेना चाहिए। अपने कर्तव्य को अगले क्षण के लिए भी न टालकर उसी समय करना चाहिए।

568. || सर्वज्ञता लोकज्ञता ||
अपनी बुद्धि से लोक-चरित्र को समझना ही सर्वज्ञता कहलाती है। बुद्धिमान लोग बुद्धिबल से घर बैठे ही संसार की समस्याओं को समझ लेते हैं।

569. || शास्त्रप्रयोजनं तत्त्वदर्शनम् ||
अच्छे-बुरे का विवेक (यथार्थ ज्ञान) की प्राप्ति ही शास्त्र-ज्ञान का उद्देश्य है। तत्त्वदर्शन अर्थात् विषयों के रहस्य का पूर्ण परिचय प्राप्त करना ही शास्त्र की उपयोगिता है।

570. || शास्त्रज्ञोऽप्यलोकज्ञो मूर्खतुल्यः ||
शास्त्र का ज्ञान होने पर भी यदि कोई व्यक्ति लोकव्यवहार नहीं जानता, तो वह मूर्ख के समान है।

571. || तत्त्वज्ञानं कार्यमेव प्रकाशयति ||
तत्त्वज्ञान (कर्तव्यरूप कार्य के रहस्य का पूर्ण ज्ञान) द्वारा ही किए गए कार्य सफल होते हैं। कर्तव्य को दृढ़ बनाने में तत्त्वज्ञान सराहनीय सहयोग करता है।

572. || धर्मार्थदृशा व्यवहारो गरीयान् ||
धर्म का स्वरूप व्यवहारिक होना चाहिए। जिस धर्म में व्यवहार को प्रमुखता दी जाती है, उसी धर्म के लोग संसार में प्रमुख माने जाते हैं।

573. || व्यवहारानुलोमो धर्मः ||
व्यवहार के बिना धर्म का प्रसार नहीं हो सकता। जिस धर्म में व्यवहार को प्राथमिकता दी जाती है, उसी के अनुयायी समाज में आदरणीय होते हैं।

574. || व्यवहारे पक्षपातो न कार्यः ||
न्याय-व्यवहार में पक्षपात नहीं होना चाहिए।

575. || आत्मैव व्यवहारस्य साक्षी ||
आत्मा ही व्यवहार की साक्षी होती है। यदि मनुष्य के अंतःकरण में कोई पाप नहीं है, तो वह व्यवहार निर्दोष माना जाता है।

576. || सर्वसाक्षी ह्यमात्मा ||
आत्मा समस्त प्राणियों में साक्षीरूप से विद्यमान रहती है। सत्यस्वरूप आत्मा प्रत्येक कर्म को सत्य या असत्य प्रमाणित कर, तटस्थ दृष्टा बनकर हृदय में स्थित रहती है।

577. || न स्यात् कूटसाक्षी ||
मनुष्य को कभी भी झूठे प्रमाण का समर्थक (कूटसाक्षी) नहीं बनना चाहिए। उसे सदैव सत्य का समर्थन करना चाहिए।

578. || कूटसाक्षिणो निपतन्ति स्मात् ||
झूठ की साक्षी देने वाले लोग नरक में जाते हैं। अज्ञानी लोग भी झूठी बात को सच बनाने के लिए साक्षी देते हैं।

579. || न क्रोश्चन्नाशयति समुद्धरति वा ||
किसी के पक्ष या विपक्ष में झूठी साक्षी देने वाला व्यक्ति न तो किसी का उद्धार करता है और न ही उसका विनाश। यह प्रभु की कृपा पर निर्भर करता है कि किसका कल्याण होगा या अनर्थ।

580. || प्रतिनिपापानां साक्षिणः महाभूतानि ||
छुपकर किए गए पापों के साक्षी पंचमहाभूत— पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश होते हैं। कोई भी छिपा पाप वास्तव में छिपा नहीं रह सकता।

581. || आत्मनः पापमात्मैव प्रकाशयति ||
पापी व्यक्ति अपने पापों को स्वयं प्रकट करता है। उसके मन में सदैव अशांति बनी रहती है, जिससे वह स्वयं ही अपने पापों का उद्घाटन कर बैठता है। अतः मनुष्य को पापी व्यक्ति से नहीं, पाप से डरना चाहिए।

582. || व्यवहारान्तर्गतः आकारः सूच्यते ||
व्यक्ति के मन के भाव (व्यवहार) उसके चेहरे के आकार और हावभाव से प्रकट हो जाते हैं।

583. || आकारसंविनं देवानपि शक्यं न ||
मनुष्य के मनोभावों को प्रकट करने वाला उसका शारीरिक हावभाव इतना सशक्त होता है कि देवता भी उन्हें छिपाने में असमर्थ रहते हैं।

584. || चौरराजपुरुषेभ्यः संवर्तं रक्षेत् ||
राजा को चोरों और अपने कर्मचारियों से राष्ट्र की संपत्ति की रक्षा करनी चाहिए। यदि वह प्रजा की संपत्ति की रक्षा नहीं कर सकता, तो प्रजा उसे भी भ्रष्ट मानने लगती है।

585. || तुष्णीं हि राज्ञः प्रजां नाशयन्ति ||
जो राजा प्रजा की समस्याओं को नहीं सुनता, उनके दुख-सुख में भागी नहीं बनता, वह राजा अंततः प्रजा के क्रोध से नष्ट हो जाता है। राजा का कर्तव्य है कि वह प्रजा से निकट संबंध बनाए रखे।

586. || सुदर्शनं हि राज्ञः प्रजां विन्दयन्ति ||
जो राजा प्रजा से स्नेहपूर्वक व्यवहार करता है, उनके सुख-दुख को सुनता है, उनकी उन्नति हेतु प्रयत्न करता है, प्रजा उससे प्रसन्न रहती है। इसलिए राजा को चाहिए कि वह प्रजा से गहन संबंध बनाए रखे।